तुलसी प्रज्ञा

अप्रैल-सितम्बर, १९७७ अंक २-३

जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादन समिति

१. श्री श्रीचन्द रामपुरिया,	कुलपति	जैन विश्व भारती
२. श्री श्रीचन्द बैंगानी,	मंत्री	,,
३. श्री गोपीचन्द चोपड़ा,	प्रशासक	,,
४. डा० नथमल टाटिया,	निदेशक, शिक्षा एवं शोध	,,
५. डा० दयानन्द भार्गव,	सह-निदेशक, ,, ,,	,,
६. श्री रायकुमार श्रीश्रीमाल,	निदेशक, सेवा भावी कल्याण केन्द्र	,,

आजीवन सदस्य शुल्क	—	२०१) रु०
भारत में वार्षिक शुल्क	—	२२) रु०
एक अंक का मूल्य	—	६) रु०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुलसी प्रज्ञा

संपादक मंडल

श्री श्रीचन्द रामपुरिया
डा० नथमल टाटिया
डा० दयानन्द भार्गव

जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'तुलसी प्रज्ञा' में जैन विद्या सम्बन्धी गवेषणात्मक निबन्ध प्रकाशित किए जाते हैं। प्रकाशनार्थ प्रेषित निबन्ध कहीं अन्यत्र प्रकाशित न हुआ होना चाहिए और कागज के एक ओर सुस्पष्ट रूप से हस्तलिखित या टंकित होना चाहिए। साथ में लेखक अपना परिचय भी भेजें।

जैन विद्या के विविध क्षेत्रों में चल रही शोध-प्रवृत्तियों से अपने पाठकों को परिचित कराना भी हमारा उद्देश्य है। अतः विद्वानों से प्रार्थना है कि वे अपनी अनुसंधान की दिशा और उपलब्धियों से हमें अवगत कराते रहें।

जैन विद्या की विविध विधाओं से सम्बद्ध विषयों पर विश्वविद्यालयों के द्वारा स्वीकृत शोध महानिबन्धों के सारसंक्षेप भी प्रकाशनार्थ भेजे जायं।

'साहित्य-समीक्षा' स्तम्भ के अन्तर्गत समीक्षार्थ भेजी जाने वाली पुस्तक की दो प्रतियाँ प्राप्त होनी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुलसीप्रज्ञा

खण्ड-३ अप्रैल-सितम्बर, १९७७ अंक २-३

लेख सूची

१. वचन-वीथी पृष्ठ १
—आगम वचन
२. आचार्य प्रवचन : महावीर दर्शन ,, ३
—युग प्रधान आचार्य श्री तुलसी का प्रवचन
३. जैन धर्म और अहिंसा ,, ५
—डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी
४. क्रियमाणं कृतम् ,, ६
डॉ. नथमल टाटिया
५. जैन दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शनों में मोक्ष तत्त्व ,, १६
६. किंपागफलोवमा विसया ,, ३०
—श्री श्रीचन्द रामपुरिया
७. स्याद्वाद के फलित ,, ३९
—मुनि नथमल
८. चूर्णि-कथा : मुणी मणगो (मुनि मनक) ,, ४८
—अनु. मुनि दुलहराज
९. आगम-अनुसंधान : मंगलवाद : नमस्कार महामंत्र के पाठ-भेद ,, ५३
—मुनि नथमल
१०. जैनेतर भारतीय चिन्तन में मरण की विधायें ,, ६१
—श्री श्रीचन्द रामपुरिया
११. सिरि भगवई जोड़ : शास्त्र-प्रभावना ,, १०३
—रचयिता श्रीमद् जयाचार्य
१२. भारतीय एवं टालमीय ज्योतिष का तुलनात्मक अध्ययन ,, १०८
—श्री जगदीशसिंह सिसोदिया, डॉ. शक्तिधर शर्मा,
सज्जन सिंह लिश्क

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. पालि-प्राकृत साहित्य में कर्म एवं पुरुषार्थ का अन्तर्द्वन्द्व ,, १२४
—डॉ. प्रेम सुमन जैन
१४. साधना का अर्थ ,, १३६
—आचार्य श्री तुलसी
१५. साहित्य-समीक्षा ,, १४१
(१) जैन न्याय का विकास
—डॉ. नथमल टाटिया
(२) ठाणं
—डॉ. दयानन्द भार्गव
१६. Dr. Jacobi and Interpretation of ,, १४५
Vasi—Chandana-Kappo.
—Muni Mahendra kumar
१७. The Classification of Varieties of Hetu in Jaina Logic ,, १६५
—Dr. Dayanand Bhargava
१८. Doctrine of Lesyā and Psychological Types ,, १७७
—Dr. T. G. Kalghatgi,
१९. Pre-Mediaeval Jaina Novels ,, १८३
—Dr. Jyoti Prasad Jain
२०. जैन विश्व भारती : प्रवृत्ति एवं प्रगति ,, १८६
— कुलपति जै० वि० भा० लाडनूं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वचन-वीथी

नाणसंपन्नयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! ज्ञान-सम्पन्नता (श्रुतज्ञान की सम्पन्नता) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

नाणसंपन्नयाए णं जीवे सव्वभावाहिगमं जणयइ। नाणसंपन्ने णं जीवे चाउरन्ते संसारकन्तारे न विणस्सइ।

ज्ञान-सम्पन्नता से वह सब पदार्थों को जान लेता है। ज्ञान-सम्पन्न जीव चार गतिरूप चार अन्तों वाली संसार-अटवी में विनष्ट नहीं होता।

जहा सूई ससुत्ता
पडिया वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते
संसारे न विणस्सइ॥

जिस प्रकार ससूत्र (धागे में पिरोई हुई) सुई गिरने पर भी गुम नहीं होती, उसी प्रकार ससूत्र (श्रुत-सहित) जीव संसार में रहने पर भी विनष्ट नहीं होता।

नाणविणयतवचरित्तजोगे संपाउणइ ससमयपरसमय संघायणिज्जे भवइ।

(ज्ञान-सम्पन्न) अवधि आदि विशिष्ट ज्ञान, विनय, तप और चरित्र के योगों को प्राप्त करता है तथा स्वसमय और परसमय की व्याख्या या तुलना के लिए प्रामाणिक पुरुष माना जाता है।

दंसणसंपन्नयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! दर्शन-सम्पन्नता (सम्यक् दर्शन की सम्प्राप्ति) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

दंसणसंपन्नयाए णं भवमिच्छत्तछेयण करेइ, परं न विज्झायइ। अणुत्तरेणं नाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ।

दर्शन-सम्पन्नता से वह संसार पर्यटन के हेतु-भूत मिथ्यात्व का उच्छेद करता है—क्षायिक सम्यक् दर्शन को प्राप्त होता है। उससे आगे उसकी प्रकाश शिखा बुझती नहीं। वह अनुत्तर ज्ञान और दर्शन को आत्मा से संयोजित करता हुआ, उन्हें सम्यक् प्रकार से आत्मसात् करता हुआ विहरण करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चरितसंपन्नयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

चरितसंपन्नयाए णं सेलेसीभावं जणयइ। सेलेसिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ ।

भन्ते ! चारित्र-सम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

चारित्र-सम्पन्नता से वह शैलेशीभाव को प्राप्त होता है। शैलेशी-दशा को प्राप्त करने वाला अणगार चार केवलि-सत्क कर्मों को क्षीण करता है। उसके पश्चात् वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और सब दुःखों का अन्त करता है।

खन्तीए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

खन्तीए णं परीसहे जिणइ ।

भन्ते ! क्षमा से जीव क्या प्राप्त करता है ?

क्षमा से वह परीषहों पर विजय प्राप्त कर लेता है ?

मुत्तीए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

मुत्तीए णं अकिंचणं जणयइ। अकिंचणे य जीवे अत्थलोलाणं अपत्थणिज्जो भवइ ।

भन्ते ! मुक्ति (निर्लोभता) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मुक्ति से वह अकिंचनता को प्राप्त होता है। अकिंचन जीव अर्थ-लोलुप पुरुषों के द्वारा अप्रार्थनीय होता है—उसके पास कोई याचना नहीं करता।

अज्जवयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

अज्जवयाए णं काउज्जुययं भावुज्जुययं भासुज्जुययं अविसंवायणं जणयइ। अविसंवायणसंपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ।

भन्ते ! ऋजुता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

ऋजुता से वह काया की सरलता, मन की सरलता, भाषा की सरलता और अवंचक वृत्ति को प्राप्त होता है। अवंचक वृत्ति से सम्पन्न जीव धर्म का आराधक होता है।

मद्दवयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

मद्दयाए णं अणुस्सियत्तं जणयइ। अणुस्सियत्ते णं जीवे मिउमद्दवसंपन्ने अट्ठ मयट्ठाणाइं निट्ठवेइ ।

भन्ते ! मृदुता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मृदुता से वह अनुद्धत मनोभाव को प्राप्त करता है। अनुद्धत मनोभाव वाला जीव मृदु-मार्दव से सम्पन्न होकर मद के आठ स्थानों का विनाश कर देता है।

★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य-प्रवचन

महावीर दर्शन*

विचारों की विविधता ने दर्शन को जन्म दिया। जितने विचार उतने ही दर्शन। आत्मा, लोक, परलोक, पुण्य, पाप, धर्म, कर्म आदि दर्शन जगत् के आलोच्य विषय रहे हैं। इन विषयों पर जो स्वतन्त्र विचार विकसित हुए उन्होंने स्वतन्त्र दर्शन का रूप ले लिया और जो विचार एक-दूसरे से मिलते-जुलते थे वे परस्पर अन्तरर्गभित हो गए। भारतीय दर्शनों में मुख्य रूप से छः दर्शन मान्य हैं, जिनमें एक हैं जैन दर्शन।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र चिंतन का अधिकार है। भगवान् महावीर ने कहा—जो मैंने कहा है, वही सत्य है ऐसा समझ कर किसी तत्त्व को स्वीकार मत करो, बल्कि अपने चिन्तन की कसौटी पर वह खरा उतरे तब स्वीकार करो। परम्परा से जैन बनना बड़ी बात नहीं है। वस्तुतः जैन वह है जो जैन धर्म व दर्शन के बारे में कुछ ज्ञान रखता है। आज इस महावीर जयन्ती के अवसर पर मैं भगवान् महावीर के कुछ मौलिक विचार आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ।

1. सर्वेश्वरवाद

प्रायः यह मानवीय दुर्बलता देखी जाती है कि हर व्यक्ति दूसरों को अपने से भिन्न देखना चाहता है। एक मुहल्ले का व्यक्ति अपने पड़ौसी के ऐश्वर्य को देखकर ईर्ष्या करता है। एक राजा यह नहीं चाहता कि उसके सेवक उसकी बराबरी करने लगें। एक भगवान् अपने भक्तों को भक्त ही रखना चाहता है। पर महावीर सर्वेश्वर-

* इस स्तम्भ में आचार्य श्री तुलसी के प्रवचन प्रकाशित होते रहेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाद के प्रतिपादक थे। उन्होंने हर आत्मा में ईश्वरीय सत्ता बताई। महावीर नहीं चाहते थे कि भक्त भक्त ही बने रहें। उन्होंने कहा—हर आत्मा में अनन्त शक्ति है। शक्ति को उद्घाटित करके हर आत्मा मोक्ष जा सकती है।

2. विचार स्वातन्त्र्य

महावीर की दृष्टि में सत्य असीम है। उसे एक ही सीमा में बांधा नहीं जाता। सत्य को अनेक दृष्टियों से परखा जा सकता है और अपेक्षा भेद से सभी दृष्टियाँ सत्य हो सकती हैं। महावीर ने कहा—मेरे विचारों का जितना महत्व है, दूसरे के विचारों का भी उतना ही महत्त्व है। यह समझ कर किसी के विचार स्वातन्त्र्य का अपहरण मत करो। यदि तुम दूसरे की बात को सर्वथा ठुकराते हो तो तुम्हारा कथन भी सत्य कैसे हो सकता है।

3. समता

महावीर ने प्राणीमात्र में समता का दर्शन किया। उन्होंने कहा—आत्मत्व की दृष्टि से आत्मा आत्मा के बीच कोई विभेद नहीं है। हर आत्मा सुख चाहती है, दुःख नहीं। हर आत्मा जीना चाहती है, मरना नहीं। इसलिए किसी को मत मारो, मत सताओ। किसी को सुखी बनाना तुम्हारे बस की बात नहीं है, पर किसी को दुःखी तो मत बनाओ। जिस व्यवहार से या जिस भाषा के प्रयोग से तुम्हें कष्ट होता हो वैसा व्यवहार व वैसी भाषा का प्रयोग औरों के साथ मत करो। यह है समत्व का आदर्श।

महावीर का यह दर्शन सार्वभौम सत्य है। आज विश्व के अणु-अणु में महावीर के दर्शन की गूंज है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विकसित हुई मैत्री, असंग्रह और सह-अस्तित्व की भावना महावीर के अहिंसा, अपरिग्रह और समता दर्शन के ही फलित हैं।

महावीर ने यथार्थ की भूमिका पर खड़े होकर यथार्थ का प्रतिपादन किया। महावीर के यथार्थवाद की स्तुति करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने अयथार्थवादियों पर व्यंग्य किया है—

यथास्थितं वस्तु दिशन्नधीश ! न तादृशं कौशलमाश्रितोऽसि।
तुरंगशृंगाण्युपपादयद्भ्यो नमः परेभ्यो नव-पण्डितेभ्यः॥

भगवन्! हम आपको महान् क्यों मानेंगे? आपने कोई नया दर्शन तो हमें नहीं दिया। आपने यही तो कहा—अच्छे को अच्छा समझो, बुरे को बुरा। धर्म को धर्म समझो, अधर्म को अधर्म। यथार्थ को यथार्थ समझो, अयथार्थ को अयथार्थ। हम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो उन व्यक्तियों को नमस्कार करेंगे जो हमें कोई नई बात बतायेंगे। जैसे घोड़े के सींग होते हैं, वन्ध्या के भी पुत्र होता है, आकाश में भी फूल हो सकता है। आदि।

महावीर के विचारों को आज व्यापक रूप से फैलाने की अपेक्षा है। मुझे लगता है आज 2500 वर्ष के बाद महावीर की मूल्यवत्ता पहले से भी अधिक बढ़ गई है। इसका कारण है महावीर ने शाश्वत तथ्य प्रकट किए। जो शाश्वत होता है उसका मूल्य कभी कम नहीं होता। महावीर के विचार किसी एक वर्ग, जाति या सम्प्रदाय के लिए नहीं, बल्कि प्राणिमात्र के लिए हैं। अधिक से अधिक इन विचारों का प्रसार हो और मानवीय चेतना इनसे लाभान्वित हो इसी विश्वास के साथ पुनः महावीर के चरणों में श्रद्धाँजलि अर्पित करता हूँ।

●

जैन धर्म और अहिंसा

अहिंसा और जीवदया का सिद्धान्त और आचरण जैनधर्म की आधारभूत और मौलिक स्थापनाओं में से एक है। ब्राह्मण एवं बौद्ध धर्म की अपेक्षा यह जैन धर्म के वैशिष्ट्य का अधिक निरूपक है। ब्राह्मण धर्म में शास्त्रीय क्रियाकाण्ड के अन्तर्गत पशुबलि का अवसर है—वैदिक, पौराणिक और तान्त्रिक धर्माचार में, और दर्शन की कुछ शाखाओं में भी, इसे स्वीकृति मिली है। बौद्धों में, चाहे वे हीनयान हों अथवा महायान, मांसाहार की अनुमति है, और यह प्रचिलित भी है। किंतु गत् 2500 वर्षों से जैनधर्मावलम्बियों ने, तर्कसंगत रहकर, इस विषय में कभी समझौता नहीं किया और अहिंसा के सिद्धांत और आचार का पालन करते रहे; इसके पहले, अत्यन्त प्राचीन काल में चाहे जो भी स्थिति रही हो। अतिवादी दृष्टिकोण की बात हम अभी छोड़ दें। आज केवल प्रकृति ही संहारकारी नहीं है वरन् मानवता ने भी करुणा के सामान्य भाव को भुला दिया है। वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय स्तरों पर सर्वत्र लोग एक दूसरे का गला घोंटने पर उतारू हैं। इस सन्दर्भ में जैनों का यह महान् सिद्धान्त कि सभी प्राणी पवित्र हैं और हम किसी का घात नहीं कर सकते, अपना विशेष मूल्य रखता है। अपकार और रक्तपात से बचने का यह भाव आज हमारे पारस्परिक सम्बन्धों को मृदु बनाने में नवनीत का काम करे और मानव की मानव के प्रति ही नहीं वरन् पशुओं के प्रति भी कठोरता को दूर करे। हम एक छोर पर पहुंच चुके हैं; अब हमें दूसरे छोर की ओर जाना चाहिए ताकि एक मध्यस्थ भाव की उपलब्धि हो। इससे मानवता का कल्याण होगा और हम आत्यांतिक संकटों से बच सकेंगे।

—सुनीति कुमार चटर्जी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रियमाणं कृतम्

डॉ० नथमल टाटिया

1. सभी दर्शन किसी न किसी रूप में कारणता के सिद्धान्त को अवश्य स्वीकार करते हैं और न करने वालों को भी अन्ततोगत्वा उसकी तार्किक समीक्षा करनी ही पड़ती है, जैसाकि माध्यमिक बौद्ध इस सिद्धान्त का विस्तार से खण्डन करते हुए अपने सर्व शून्यतावाद की सम्पुष्टि करते हैं। ये सारे खंडन-मंडन कारण और कार्य के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रश्न पर आधारित हैं।

2. उदाहरणार्थ, सांख्य-योग दर्शन कार्य को कारण में पहले से ही विद्यमान मानते हैं। कारण ही कार्य के रूप में परिणत होता है एवं फलस्वरूप कार्य की अभिव्यक्ति होती है। कार्य यदि कारण में पहले से ही विद्यमान नहीं होता तो उसका आविर्भाव कैसे होता ? तिल से तेल उत्पन्न होता है न कि सिकता से। यह कार्य-कारणवाद परिणामवाद कहलाता है। इसका अपर नाम सत्कार्यवाद है। यह परिणाम शब्द भिन्न-भिन्न दर्शनों में भिन्न-भिन्न अर्थ का वाचक है। वैभाषिकों का परिणामवाद सांख्य-योग के परिणामवाद से सर्वथा भिन्न है तथा जैन दार्शनिकों का परिणामवाद भी अपनी वैयक्तिक विशेषता रखता है। सांख्य-योग का परिणामवाद ही वेदान्त में विवर्तवाद का रूप धारण करता है। उपर्युक्त सत्कार्यवाद या परिणामवाद के विरुद्ध न्याय-वैशेषिक दर्शन अपना आरम्भवाद या असत्कार्यवाद प्रस्तुत करता है, जिसमें कार्य की सर्वथा अविद्यमानता कारण में मानी जाती है। इन दोनों वादों में उपादान कारण अर्थात् द्रव्य की सत्ता स्वीकृत की जाती है। इन वादों को अस्वीकार करते हुए बौद्ध दार्शनिक प्रतीत्यसमुत्पाद वाद समुपस्थापित करते हैं। इस वाद में द्रव्य पदार्थ या धर्मी स्वीकार नहीं किया गया है। कार्य—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण भाव की व्यवस्था केवल धर्मों के पारस्परिक सम्बन्धों पर आधारित मानी गयी है। बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में उक्त प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द के विभिन्न अर्थ किये जाते हैं। माध्यमिक बौद्ध दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द को शून्यता का पर्याय माना गया है। वैभाषिक, योगाचार एवं सौत्रान्तिकों के प्रतीत्यसमुत्पादों में भी मौलिक विभिन्नता है।

3. जैन दार्शनिकों का कार्य-कारणवाद इन सभी वादों से कुछ भिन्न है। कार्य के दो प्रकार हैं—(1) उपादान रूप द्रव्य के स्वाभाविक परिणामस्वरूप उत्पन्न कार्यरूप पर्याय, तथा (2) उसी उपादान द्रव्य में अन्य सामग्री से उत्पन्न कार्य रूप पर्याय। पहले पर्याय को 'स्वकृत' (स्वभाव) तथा दूसरे पर्याय को 'परकृत' (परभाव) की संज्ञा दी जा सकती है। प्रत्येक द्रव्य में प्रतिक्षण अनन्त पर्याय उत्पन्न होते रहते हैं, जिनमें कुछ स्वकृत एवं कुछ परकृत होते हैं। यदि इन पर्याय-समूहों को एक अखण्ड कार्य माना जाय तो जैन दर्शन के कार्य-कारणवाद को हम सदसत्-कार्यवाद की संज्ञा दे सकते हैं।

4. जैन दार्शनिकों के मतानुसार उपर्युक्त सभी वाद किसी एक विशिष्ट दृष्टि पर आधारित हैं। जिस चिंतक ने प्रारम्भ से ही यह मान लिया है कि सारा विश्व किसी एक अखण्ड तत्त्व, भले ही उसमें परस्पर विरोधी विभिन्न गुणों का समावेश हो, से उत्पन्न हुआ है, उसके लिए सत्कार्यवाद स्वीकार करना अनिवार्य है। इसके विपरीत यदि कोई चिंतक इस विश्व का उद्गम विभिन्न मौलिक तत्त्वों के आधार पर समझने की कोशिश करे तथा यह भी मानले कि नवीनता संसार का धर्म है तो असत्कार्यवाद को वह अवश्य स्वीकृत करेगा। किसी प्रकार के उपादान द्रव्य को बिना माने विश्व व्यवस्था को समझने के फलस्वरूप जो कार्य-कारणवाद हमारे सामने अनिवार्य रूप से उपस्थित होगा वह प्रतीत्यसमुत्पाद वाद का ही कोई न कोई प्रकार होगा। ऐसे एकान्तवादी दृष्टियों के आधार पर जो भी दर्शन उत्पन्न हुए हैं, उन्हें जैन दार्शनिक अस्वीकार करता है, क्योंकि वे सभी एकांशदर्शी हैं। इन सभी वादों की उपमा जात्यंधों द्वारा हस्तिदर्शन से जैन दार्शनिक देते हैं। सदैव उनका यह प्रयत्न रहा है कि विभिन्न दृष्टियों के औचित्य एवं अनौचित्य को ध्यान में रख कर ही दर्शन का निर्माण किया जाय। इसी कारण जैन दर्शन अनेकान्त दर्शन भी कहलाता है।

5. उपर्युक्त विभिन्न कारणवादों के प्रसंग में एक विशेष प्रश्न पर हमें इस लेख में विवेचन करना है। वह है कारण को कार्य से संयुक्त करने वाली क्रिया। यह सर्वमान्य तथ्य है कि संकल्प-घट एवं व्यवहार-घट में काल का व्यवधान है। कुम्भकार जिस क्षण घट निर्माण का संकल्प लेता है उसी क्षण से घट निर्माण की प्रक्रिया का प्रारम्भ हो जाता है। जिस क्षण कोई व्यक्ति निर्वाण प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील बनता है एवं उस दिशा में संवर ग्रहण रूपी कदम उठाता है, उसी क्षण से वह निर्वाण का अनुभव करने लगता है, भले ही पूर्ण निर्वाण तक पहुंचने में उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कितना ही लंबा समय लगे। निर्ग्रन्थ प्रवचन के पंचम अंग भगवती सूत्र के प्रारम्भ में ही एक प्रसंग आया है जिसमें बन्धे हुए कर्मों के उदय से लेकर निर्जरा तक की क्रियाओं को नौ पदयुगलों द्वारा समझाया गया है, तथा यह स्पष्टरूप से बता दिया गया है कि क्रियमाण और कृत के बीच कोई विरोध नहीं है। ये नौ पदयुगल क्रमशः निम्न प्रकार हैं—चलत्-चलितम् उदीर्यमाणम्-उदीरितम्, वेद्यमानं-वेदितम्, प्रहीयमाणं-प्रहीणम्, छिद्यमानं-छिन्नम्, भिद्यमानं-भिन्नम्, दह्यमानं-दग्धम्, म्रियमाणं-मृतम् एवं निर्जीर्यमाणं-निर्जीर्णम्। इन नौ पदयुगलों में पूर्व-पूर्व पद क्रिया के द्योतक हैं, जबकि उत्तर-उत्तर पद क्रिया निष्पत्ति के द्योतक हैं। क्रिया-प्रारंभ के प्रथम क्षण से ही क्रिया-निष्पत्ति का प्रारम्भ हो जाता है। अन्यथा क्रिया-निष्पत्ति कभी सम्भव नहीं होगी। टीकाकार अभयदेवसूरि (c. A. D. 1015-1078) ने विस्तार से इस तथ्य पर विवेचन प्रस्तुत किया है जिसका निरूपण हम उनसे पूर्ववर्ती आचार्य जिनभद्र (c. A. D. 489-593), भट्ट अकलंकदेव (c. A. D. 620-680) एवं वीरसेन (c. A. D. 743-823) के विचारों के माध्यम से करेंगे। इसके पहले हम बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन के विचारों को प्रस्तुत करेंगे जो इस विषय पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। निर्ग्रन्थ विचारधारा में उपर्युक्त मत के विरुद्ध जो विचारधारा प्रस्तुत की गयी उसका उद्गम भगवान् महावीर के केवलज्ञान प्राप्ति के अनन्तर 14 वें वर्ष में उनके पथभ्रान्त शिष्य जमालि द्वारा किया गया। अब हम नागार्जुन के एतद्विषयक मन्तव्य का निरूपण करेंगे।

6. कार्यकारण भाव के खण्डनार्थ नागार्जुन (c. A. D. 150) ने जो विवेचन प्रस्तुत किया है वह निम्नोक्त प्रकार है—

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥1॥
चत्वारः प्रत्यया हेतुश्चालम्बनमनन्तरम्।
तथैवाधिपतेयं च प्रत्ययो नास्ति पंचमः ॥2॥
नहि स्वभावो भावानां प्रत्ययादिषु विद्यते।
अविद्यमाने स्वभावे परभावो न विद्यते ॥3॥
क्रिया न प्रत्ययवती नाप्रत्ययवती क्रिया।
प्रत्यया नाक्रियावन्तः क्रियावन्तश्च संत्युत ॥4॥

—मूलमध्यमककारिका, I.1-4

उपर्युक्त श्लोकों का सारार्थ निम्न प्रकार है—

(1) कोई भी पदार्थ (कार्य) न अपने से, न पर से, न दोनों से, न बिना हेतु उत्पन्न होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस पर अन्य बौद्ध दार्शनिक कहते हैं—हमें यह मान्य है कि कार्य अपने से उत्पन्न नहीं होता क्योंकि वैसी उत्पत्ति व्यर्थ है। कार्य संयुक्त रूप से स्व एवं पर से भी उत्पन्न नहीं होता कारण स्व से उत्पत्ति निरर्थक है जैसा कि हम मान चुके हैं। निर्हेतुक उत्पत्ति भी हमें मान्य नहीं है। ये सब प्रतिषेध हमें स्वीकार्य हैं ; किंतु स्व से भिन्न पर पदार्थ से उत्पत्ति मानने में कोई भी बाधा नहीं है।

इसके उत्तर में नागार्जुन चार प्रकार के प्रत्ययों का उल्लेख करते हैं, जो विरोधी पक्ष को मान्य हैं। वे चार प्रत्यय हैं—

(2) हेतु-प्रत्यय, आलम्बन-प्रत्यय, अनन्तर-प्रत्यय एवं अधिपति-प्रत्यय।

(3) इन प्रत्ययों से भी कार्य की उत्पत्ति सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि कार्यरूपी भावों का स्वभाव इन प्रत्ययों में अविद्यमान है। प्रत्यय यदि परभाव हैं तो परभाव-विरोधी स्वभाव स्वयं कार्य ही हो सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि कार्य पहले से ही विद्यमान है। ऐसी परिस्थिति में नये सिरे से कार्य की उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

इसके विरुद्ध विरोधी पक्ष कार्य की उत्पत्ति सिद्ध करने के लिए एक नया मार्ग अपनाते हैं। कार्य की उत्पत्ति प्रत्ययों से नहीं होती। वह कार्योत्पादक क्रिया से होती है। उदाहरणार्थ, चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति उपर्युक्त हेतु, आलम्बन, आदि प्रत्ययों से सीधी नहीं होती। इन प्रत्ययों से तो चक्षुर्विज्ञान को उत्पन्न करने वाली क्रिया की निष्पत्ति होती है। वह क्रिया चक्षुर्विज्ञान को जन्म देती है। अतः उन प्रत्ययों से उत्पन्न जो क्रिया है वही विज्ञान की जनिका है, प्रत्यय विज्ञान के जनक नहीं हैं, जैसा कि ओदन की निष्पत्ति पाक-क्रिया से होती है, न कि इंधन से।

इसके उत्तर में नागार्जुन कहते हैं—

(4 a) क्रिया नामक कोई पदार्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः उसे हेतु, आलम्बन आदि प्रत्ययों से प्रत्ययवती कैसे कहा जा सकता है? विरोधी पक्ष ने जिस क्रिया को मान्यता दी है, वह कब उत्पन्न होती है? वह यदि कभी उत्पन्न होती है तो चक्षुर्विज्ञान से पश्चात्, पूर्व या समकालीन होगी। चक्षुर्विज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होना व्यर्थ है, कारण, उसका कार्य (चक्षुर्विज्ञान) पहले से ही उत्पन्न हो चुका है। कार्य के उत्पन्न होने के पहले भी उसका उत्पन्न होना असंगत है, क्योंकि कार्य के बिना क्रिया का होना असम्भव है। कार्य की जायमान अवस्था में भी क्रिया का रहना सम्भव नहीं, कारण, जायमान नामक किसी अवस्था को हम स्वीकार नहीं करते। पदार्थ या तो जात होंगे या अजात। जायमान नामक तृतीय कोटि का स्वीकार करना युक्तिविरुद्ध है। इस प्रसंग में वृत्तिकार चन्द्रकीर्ति एक महत्त्वपूर्ण श्लोक उद्धृत करते हैं, जो निम्न प्रकार है—

जायमानार्धजातत्वाज्जायमानो न जायते।
अथ वा जायमानत्वं सर्वस्यैव प्रसज्यते॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्, जायमान की उत्पत्ति नहीं होती, कारण, जायमान स्वयं आंशिक रूप से जात है ही। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो जगत् के सारे (जात) पदार्थ जायमान गिने जायेंगे।

अब विरोधी पक्ष क्रिया को प्रत्ययवती नहीं मानकर उसे अप्रत्ययवती मानना चाहता है।

(4 b) इस पर नागार्जुन का कहना है कि प्रत्ययवती क्रिया ही जब कार्य की साधिका नहीं बन सकी तो अप्रत्ययवती क्रिया, जो निर्हेतुका है, से कार्य की उत्पत्ति कैसे होगी ?

इस पर विरोधी पक्ष कहता है कि यदि क्रिया कार्य की साधिका नहीं है तो हम फिर से प्रत्ययों का पक्ष ही ग्रहण करेंगे। क्रियारहित प्रत्यय ही कार्य के जनक होंगे।

(4 c) इस पर नागार्जुन कहते हैं कि क्रियारहित प्रत्यय कार्य के जनक कैसे हो सकते हैं ? जैसे प्रत्ययहीन क्रिया कार्य के उत्पादन में असमर्थ है, उसी प्रकार क्रियारहित प्रत्यय भी कार्य के उत्पादन में असमर्थ है।

इसके उत्तर में फिर से विरोधी पक्ष यह मानते हैं कि क्रियावान् प्रत्यय ही कार्य के जनक हैं।

(4 d) इस पर नागार्जुन का कहना है कि प्रत्यय तो क्रियावान् हो ही नहीं सकते। आपने भी प्रत्ययों को क्रियारहित स्वीकार कर लिया है।

नागार्जुन का उपर्युक्त विवेचन कार्य-कारणवाद के प्रश्न पर एक नया प्रकाश डालता है। यद्यपि उनके समक्ष विरोधी पक्ष के रूप में बौद्ध दार्शनिकों का ही सम्प्रदाय विशेष था, तथापि कारणतावाद तो एक सार्वजनिक प्रश्न था, जिस पर विचार बिना किये कोई दर्शन आगे नहीं बढ़ सकता था। भगवतीसूत्र में जिस प्रश्न का विवेचन हम संक्षेप में देखते हैं वही प्रश्न नागार्जुन के समय में एक विशिष्ट तार्किक रूप धारण करता है। अब हम देखेंगे कि नागार्जुन के परवर्ती जैन दार्शनिक इस प्रश्न पर क्या कहते हैं।

7. उपर्युक्त प्रश्न का विवेचन जैन आचार्य जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ने अपने स्वोपज्ञ वृत्ति सहित विशेषावश्यकभाष्य में किया है। उनके टीकाकार कोट्याचार्य (7 th cent·A.D.) एवं मलधारी हेमचन्द्र (c.A.D. 1050-1120) ने भी अपनी व्याख्याओं में इस प्रश्न पर विचार प्रस्तुत किये हैं। नवांगी-टीकाकार अभयदेवसूरि ने अपनी भगवती टीका में इस प्रश्न पर जो विवेचन किया है वह भी मननीय है। दिगम्बर शास्त्रों में भट्ट अकलंक देव के तत्त्वार्थवार्तिक एवं वीरसेन विरचित जयधवला (भाग 1, पृ० 223-4) जो प्रस्तुत विषय में राजवार्त्तिक पर आधारित है, में भी इस विषय का विवेचन उपलब्ध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

8. आचार्य जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ने व्यवहार-नय एवं निश्चय-नय के आलोक में कार्य-कारण भाव का समालोचनात्मक विश्लेषण किया है। व्यवहार-नय के मत में जात पदार्थ का पुनर्जन्म स्वीकृत नहीं है। यह मत निम्नोद्धृत गाथाओं (414-416) में अंकित किया गया है—

ववहारमयं जायं न जायए भावओ कयघडोव्व ।
अह चे कयंपि कज्जइ कज्जउ निच्चं न य समत्ती ।। 414 ।।
किरियावेफल्लं चिय पुव्वमभूयं च दीसए होंतं ।
दीसइ दीहो य जओ किरियाकालो घडाईणं ।। 415 ।।
नारंभे च्चिय दीसइ न सिवादद्धाए दीसइ तदंते ।
(इय न सवणाइकाले नाणं जुत्तं तदंतम्मि) ।। 416 ।।

इसका सारार्थ इस प्रकार है—

(414) व्यवहार नय, जो असत्कार्यवादी है, का यह सिद्धांत है कि जो वस्तु पहले से ही उत्पन्न है उसकी फिर से उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि वह पहले से ही विद्यमान है जैसे कि किया हुआ घट और यदि किये हुए को भी किया जाय तो हम चिरकाल तक करते ही रहेंगे और कार्य की समाप्ति कभी नहीं होगी, तथा (415) साथ साथ क्रिया भी व्यर्थ हो जायेगी। पहले से अविद्यमान वस्तु को ही हम होते हुए देखते हैं, और यह भी देखते हैं कि घटादि का क्रियाकाल लम्बा होता है।(416) कुम्भकार जब मिट्टी का गोला बनाकर उसे शिवक (लम्बा आकार), स्थासक (गोल आकार), कोष तथा कुशूल का आकार प्रदान करता है तो प्रारंभ में तथा उन अवस्थाओं में भी घट दिखाई नहीं देता है। वह केवल अन्त में ही दिखता है।

उपर्युक्त मत के विरोध में निश्चय-मतावलम्बी दार्शनिक कहता है कि अजात-वस्तु का जन्म कभी सम्भव नहीं है। अपने सिद्धान्त के पक्ष में उसकी युक्तियों को विशेषावश्यक-भाष्य में इस प्रकार रखा गया है (गाथा 417-423)—

नेच्छइओ नाजायं जायअभावत्तओ खपुप्फं व ।
अह च अजायं जायइ जायउ तो खरविसाणंपि ।। 417 ।।
निच्चकिरियाइदोसा नणु तुल्ला असइ कट्ठतरगा वा ।
पुव्वमभूयं च न ते दीसइ किं खरविसाणंपि ।। 418 ।।
पइसमउप्पण्णाणं परोप्परविलक्खणाण सुबहूणं ।
दीहो किरियाकालो जइ दीसइ किं त्थ कुंभस्स ।। 419 ।।
अण्णारंभे अण्णं कह दीसइ जह घडो पडारंभे ।
सिवकादओ न घडओ किह दीसइ सो तदद्धाए ।। 420 ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्ति च्चिआरद्धो जइ दीसइ तम्मि चेव को दोसो।
अकयं व संपइ गए किह कीरइ किह व एसम्मि ।। 421 ।।
पइसमयकज्जकोडीनिरविक्खो घडगयाहिलासोऽसि ।
पइसमयकज्जकालं थूलमइ घडम्मि लाएसि ।। 422 ।।
को चरिमसमयनियमो पढमे च्चिय तो न कीरए कज्जं ।
नाकारणंति कज्जंतंचेवं तम्मि से समए ।। 423 ।।

इन गाथाओं का सारार्थ इस प्रकार है—

(417) नैश्चयिक दार्शनिक, जो सत्कार्यवादी है, के मत में अजात पदार्थ कभी उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि आकाश-कुसुम की तरह वह सर्वथा असत् है। यदि अजात पदार्थ भी उत्पन्न हो जाय तो आकाश-कुसुम के उत्पन्न होने में कौनसी बाधा है ?

(418) सत्कार्यवादी का यह भी कहना है कि असत्कार्यवादी ने जो 'कार्य का सदैव होते रहना' आदि दोष सत्कार्यवाद पर लगाये हैं, वे असत्कार्यवाद में भी आ जायेंगे। यही नहीं, असत्कार्यवाद में वे दोष अधिक दुष्परिहार्य होते हैं, क्योंकि असत् से उत्पत्ति मानने वाला स्पष्टतया यह स्वीकार करता है कि किसी समय कोई पदार्थ उत्पन्न हो सकता है ; अर्थात्, विश्व में किसी भी प्रकार की व्यवस्था का सर्वथा अभाव है। यह दोष सत्कार्यवाद में नहीं हैं क्योंकि विद्यमान वस्तु में किसी पर्याय विशेष की उत्पत्ति के माध्यम से कारण-कार्य की व्यवस्था को समझा जा सकता है। केवल इतना ही नहीं, सत्कार्यवाद की पृष्ठभूमि पर ही एक सुव्यवस्थित विश्व का ज्ञान सम्भव है। (देखें स्वोपज्ञ एवं कोट्याचार्य कृत वृत्ति)। असत्कार्यवादी का यह कथन कि 'अविद्यमान वस्तु को ही हम होते हुए देखते हैं', संगत नहीं है, कारण, क्या आकाश-कुसुम उत्पन्न होता हुआ दिखता है ?

(419-20) उसका यह कथन भी कि 'घटादि का क्रिया-काल दीर्घ होता है,' युक्तिसंगत नहीं है। कारण घट तो केवल अन्त्य क्षण में ही दिखता है। कुम्भकार' के घट-संकल्प से लेकर घट-निष्पत्ति के काल तक के व्यवधान में जो भिन्न भिन्न प्रकार के अनेक कार्य प्रतिक्षण उत्पन्न होते रहते हैं, उनमें घट को देखना कैसे संगत हो सकता है ? मृत्पण्ड, शिवक आदि के उत्पाद के समय घट कैसे दिख सकता है ? पट की उत्पत्ति के समय क्या घट दिखना सम्भव है ?

(421) जिस समय में जिस वस्तु का प्रारंभ होता है, यदि उसी समय में वह वस्तु ही दिखे तो उसमें क्या असंगति है। उपान्त्य (अर्थात् अन्त्य क्षण से अव्यवहित पूर्ववर्ती) क्षण में वस्तु की उत्पति का प्रारंभ होता है एवं अन्त्य क्षण में, जो वस्तु का उत्पद्यमान क्षण है, वस्तु उत्पन्न होती है तथा दिखती है। उत्पद्यमान क्षण एवं उत्पन्न क्षण में कोई भेद नहीं है। वे अभिन्न हैं। यदि उत्पद्यमान (क्रियमाण) क्षण में भी वस्तु अनुत्पन्न (अकृत) रह जाय तो उसकी उत्पति कब होगी ? कारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्प्रति (वर्तमानकाल में) जो अकृत है वह अतीत या भविष्यत्काल में कैसे कृत हो सकती है ? (स्वोपज्ञवृत्ति—समयस्य च निरवयवत्वादारभ्यमाण एवारब्ध इति । यदि च न सम्प्रतिसमय एव क्रियमाणमेव कृतमिति कथं तदतीतेऽनागते वा क्रियेत, तयोरभावत्वात् खरविषाणवत्) ।

(422) प्रतिक्षण कोटि कोटि कार्य उत्पन्न हो रहे हैं । पर असत्कार्यवादी उन सभी कार्यों में अपने चिराभिलषित घट के अभाव को ही देखता है और घटातिरिक्त कार्यों के काल को घट में लगाता है एवं कह बैठता है 'घट का कार्यकाल दीर्घ है' ।

(423) निश्चयवादी के उपर्युक्त कथन पर व्यवहारवादी कहता है कि यदि सत् ही की उत्पत्ति होती है तो वह चरम समय में ही क्यों उत्पन्न होता है । प्रथम समय में ही उसके उत्पन्न होने में क्या बाधा है ? कुम्भकार तो घट निर्माण के लिए प्रयत्नशील है । अतः प्रथम क्षण से ही घट का उत्पन्न होना युक्तिसंगत है । पर देखने में तो यह आता है कि घट की अपेक्षा शिवक आदि उत्पन्न होने लगते हैं । ऐसी परिस्थिति में अन्त्य समय में घट उत्पन्न होगा ही—ऐसा हम कैसे मान सकते हैं? इसके उत्तर में निश्चयवादी का कहना है कि कार्य की उत्पत्ति कारण के बिना संभव नहीं है । प्रतिक्षण जो भिन्न भिन्न कार्य प्रवाहबद्ध रूप से उत्पन्न हो रहे हैं उनमें पूर्व-पूर्व कार्य उत्तर-उत्तर कार्य के कारण बनते हैं । अभिलषित घटोत्पत्ति के उपान्त्य क्षण में जो कार्य उत्पन्न होता है वही अपने अव्यवहित उत्तरवर्ती क्षण में स्व-पर्याय से उपरत होता है एवं उसी क्षण में उत्पद्यमान घट रूपी कार्य उत्पन्न होता है । अतः यह कहना युक्तिसंगत है कि उत्पद्यमान एवं उत्पन्न एक ही क्रिया रूप हैं । अर्थात् उत्पद्यमान और उत्पन्न में किसी प्रकार का कालिक भेद नहीं है ।

निश्चयवादी का तात्पर्य यह है कि एक निरंश समय (क्षण) में उत्पद्यमान एवं उत्पन्न दोनों विद्यमान हैं । इनका भेद मात्र बौद्धिक है, वस्तुभूत नहीं । जात या अजात वस्तु नहीं जन्मती । जायमान का ही जन्म होता है । कहना तो यों चाहिए कि जायमान ही जात है । यह सत्कार्यवाद पारम्परिक सत्कार्य वाद से भिन्न प्रकार का है । घट एक पर्याय है, एवं पर्याय होने के कारण वह सर्वथा नवीन है । पर वह क्रिया एवं कृत उभयरूप है । इस मन्तव्य को ही 'क्रियमाणं कृतम्' वाक्य द्वारा प्रकट किया गया है

मलधारी हेमचन्द्र ने भी अपनी वृत्ति में इसी प्रकार का व्याख्यान स्वीकृत किया है । अतः उसका उल्लेख पृथक् रूप से करना आवश्यक नहीं है ।

9. 'क्रियमाणं कृतम्' प्रश्न पर भट्ट अकलंकदेव ने अपने विचार ऋजुसूत्रनय की व्याख्या के प्रसंग में तत्त्वार्थवार्तिक (1/33) में प्रस्तुत किया है । 'पच्यमानः पक्वः' की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं —

पच्यमानः पक्वः । पक्वस्तु स्यात्पच्यमानः स्यादुपरतपाक इति । असदेतत्; विरोधात् । 'पच्यमानः' इति वर्तमानः 'पक्वः' इत्यतीतः । तयोरेकस्मिन्नवरोधो विरो·

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धीति । नैष दोषः; पचनस्यादावविभागसमये कश्चिदंशो निर्वृत्तो वा, न वा? यदि न निर्वृत्तः; तद्द्वितीयादिष्वप्यनिर्वृत्तेः पाकाभावः स्यात् । ततोऽभिनिर्वृत्तः । तदपेक्षया 'पच्यमानः पक्वः' । इतरथा हि समयस्य त्रैविध्यप्रसंगः। स एवौदनः पच्यमानः पक्वः; स्यात्पच्यमान इत्युच्यते पक्तुरभिप्रायस्यानिर्वृत्तेः; पक्तुर्हि सुविशदसुस्विन्नौदने पक्वाभिप्रायः । स्यादुपरतपाक इति चोच्यते कस्यचित् पक्तुस्तावतैव कृतार्थत्वात् । एवं क्रियमाणकृत भुज्यमानभुक्त-बध्यमानबद्ध-सिध्यत्सिश्रद्धादयो योज्याः ।

उपर्युक्त वार्तिक का सारार्थ निम्नोक्त प्रकार है—पच्यमान नियमेन पक्व है । पर पक्व, पच्यमान तथा उपरतपाक दोनों है । इस पर विरोधी पक्ष का कहना है कि ऐसा कहना असंगत है क्योंकि पच्यमान पर्याय वर्तमान में है, एवं पक्व पर्याय अतीत का है । वर्तमान एवं अतीत परस्पर विरोधी होने के कारण एक साथ नहीं रह सकते । इस पर सिद्धान्तवादी का कहना है कि पच्यमान को पक्व मानने में कोई दोष नहीं है । पचन क्रिया के आदि समय (क्षण) में कोई अंश निष्पन्न हुआ या नहीं ? यदि कोई भी अंश निष्पन्न नहीं हुआ है तो द्वितीय, तृतीय आदि क्षण में भी किसी प्रकार की पाक-निष्पत्ति नहीं होगी, एवं फलस्वरूप चावल सदैव अपक्व ही रह जायेंगे । अतः पचन क्रिया के प्रथम क्षण में आंशिक पाक अवश्य स्वीकार्य है । इस अपेक्षा से पच्यमान को पक्व कहना युक्तिसंगत ही है । पक्व, पच्यमान एवं उपरतपाक ये तीनों संज्ञायें एक ही वस्तु का निर्देश करती हैं । यदि हम ऐसा नहीं मानते हैं तो एक ही निरंश क्षण (समय) तीन अंशों में विभाजित हो जायेगा । एक ही ओदन को पच्यमान, पक्व एवं उपरतपाक इन तीन विधाओं के माध्यम से समझा जा सकता है । सम्पूर्ण रूप से पक्व ओदन की अभिलाषा वाला व्यक्ति आंशिक पक्व ओदन को पच्यमान की संज्ञा देता है । आंशिक पक्व ओदन की अभिलाषा वाला पुरुष पच्यमान ओदन को ही उपरतपाक की संज्ञा देता है, क्योंकि आंशिक पक्व अन्न की प्राप्ति से वह स्वयं को कृतार्थ समझता है । इसी प्रकार से क्रियमाण-कृत, भुज्यमान-भुक्त, बध्यमान-बद्ध और सिध्यत्-सिद्ध आदि संज्ञायें भी युक्तिसिद्ध मानी जा सकती हैं ।

आचार्य वीरसेन एवं अभयदेवसूरि ने भी अपनी टीकाओं में इसी प्रकार का विवेचन प्रस्तुत किया है, अतः उनका स्वतंत्र रूप से निर्देश करना आवश्यक नहीं है ।

10. 'क्रियमाणं कृतम्' सिद्धान्त का हमने अत्यन्त संक्षिप्त अवलोकन किया। यह सिद्धान्त जैन कर्मवाद की आधारशिला है । जैन आगमों से यह तथ्य सुस्पष्ट फलित होता है । यह न सत्कार्यवाद है, न असत्कार्यवाद । इन दोनों वादों का खण्डन बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने किया, तथा साथ साथ 'जायमान' अवस्था को भी उन्होंने अस्वीकृत कर दिया, अर्थात् किसी प्रकार की कार्य-कारण व्यवस्था को वह नहीं मानते थे । असत्कार्यवाद के चरम उत्कर्ष रूप बौद्ध प्रतीत्यसमुत्पाद का भी नागार्जुन ने पुनर्मूल्यांकन किया एवं उसका पर्यवसान शून्यता में किया । आचार्य जिनभद्र ने जैन आगमों की 'क्रियमाण' अवस्था को निश्चयनय के आधार पर समझने की कोशिश की तथा कारणतावाद के ऊहापोह में एक नया कदम उठाया । टीकाकार कोट्याचार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने इस निश्चय-नय-परक व्याख्या की संगति बौद्ध क्षणभंगवाद से बिठाई, जैसा कि विशेषावश्यक-भाष्य 425 पर उनकी टीका में उद्धृत 'भूतियँषां क्रिया सैव' इस पद्यांश से होती है। सम्पूर्ण पद्य इस प्रकार है :—

क्षणिका: सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुत: क्रिया।
भूतियँषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥

देखो मध्यमकवृति, पृ 116, टि० 1.

उत्तरवर्ती जैन दार्शनिक अकलंकदेव तथा उनके अनुयायी आचार्य वीरसेन ने ऋजुसूत्र-नय-परक व्याख्या द्वारा 'क्रियमाणं कृतम्' सिद्धान्त के कार्यक्षेत्र में और भी परिवर्तन किया। नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि तथा मलधारी हेमचन्द्र ने भी इस सिद्धान्त को अपने ढंग से स्पष्ट किया। एकान्तवादियों के कार्य-कारण वाद संबंधी मन्तव्यों की समीक्षा उपर्युक्त 'क्रियमाणं कृतम्' सिद्धान्त के आधार पर करना आवश्यक है। इस सिद्धान्त की परिधि किसी नयविशेष तक सीमित नहीं रखकर यदि आगमों के ही आधार पर इसे समझने के प्रयत्न किये जायं तो शायद कार्य-कारण वाद पर नया प्रकाश डाला जा सकेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शनों में मोक्ष तत्त्व

श्री उदयचन्द्र जैन

भारतीय दर्शन का एक निश्चित उदेश्य है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये वह सदा प्रयत्नशील रहता है, साथ ही इस उद्देश्य की प्राप्ति के उपाय भी बतलाता है। संसार में चार बातें ऐसी हैं जिनको प्राप्त करना पुरुष का परम कर्तव्य है। उनका नाम पुरुषार्थ (पुरुष का अर्थ अर्थात् प्रयोजन) है। धर्म, अर्थ काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ कहे गये हैं। इन में से मोक्ष या मुक्ति सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है इस संसार में समस्त प्राणी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीन प्रकार के दुःखों से सदा सन्तप्त रहते हैं और दर्शनशास्त्र इन दुःखों से मुक्ति का उपाय बतलाता है। दुःखों से छुटकारा पाना ही पुरुष का अन्तिम लक्ष्य है, और इस लक्ष्य की प्राप्ति करना दर्शनशास्त्र का काम है। इसीलिए दर्शनशास्त्र को मोक्ष-शास्त्र भी कहा गया है। यद्यपि मोक्ष के स्वरूप तथा साधनों के विषय में दार्शनिकों में मतभेद है, किंतु मोक्ष नामक तत्त्व की सत्ता के विषय में सब का मतैक्य है। उस मोक्ष की प्राप्ति के लिए विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न मार्गों को बतलाया है, किन्तु उन सबका लक्ष्य एक ही है।

मोक्ष के विषय में जानने से पहले यह जानना आवश्यक है कि संसारी जीव अनादिकाल से कर्मबद्ध है। अन्य दर्शनों की तरह जैनदर्शन भी जीव और कर्म के सम्बन्ध को अनादि मानता है। ऐसा किसी ने भी नहीं माना है कि किसी समय जीव सर्वथा शुद्ध था और उसके साथ कर्मों का सम्बंध बाद में हुआ। यदि सर्वथा शुद्ध जीव के भी कर्म का बन्ध माना जाय तो मुक्त जीव के भी कर्म का बन्ध मानना पड़ेगा। तब फिर कोई जीव मुक्ति के लिए प्रयत्न ही क्यों करेगा? आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादिकाल से है और यह आत्मा कर्मों द्वारा कलुषित तथा परतन्त्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होकर चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता हुआ दुःखों के भार को ढोया करता है। इस विषय में सिद्धांत चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य ने कितना सुन्दर उदाहरण दिया है कि "जिस प्रकार बोझा ढोने वाला व्यक्ति कांवड़ को लेकर बोझा ढोता है, उसी प्रकार यह संसारी जीव शरीर रूपी कावड़ द्वारा कर्म भार को ढोता है।"[1]

कर्मबन्ध को सादि मानने का अर्थ यह होगा कि आत्मा पहले कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त और अनन्तज्ञानादिगुणों से युक्त था। ऐसी स्थिति में शुद्ध आत्मा कर्म-बन्धन को स्वीकार क्यों करेगा ? अत्यन्त शुद्ध आत्मा अत्यन्त घृणित शरीर को कैसे धारण कर सकता है ? शुद्ध आत्मा में पुनः अशुद्धि का कारण क्या है ? शुद्ध आत्मा को पुनः अशुद्ध बनने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा अनादिकाल से कर्मबन्धनयुक्त है। यद्यपि जीव के साथ कर्म-सम्बन्ध अनादि है फिर भी किसी दृष्टि से वह सादि भी है। जिस प्रकार वृक्ष और बीज का सम्बन्ध सन्तान की अपेक्षा से अनादि है और पर्याय की अपेक्षा से सादि है, उसी प्रकार कर्मसम्बन्ध भी सन्तान की अपेक्षा से अनादि है और पर्याय की अपेक्षा से सादि है। कर्मबन्ध अनादि होते हुए भी सान्त है। क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो अनादि है उसे अनन्त भी होना चाहिए। विरोधी कारणों का समागम होने पर अनादि सम्बन्ध भी समाप्त हो जाता है। इस विषय में एक दृष्टान्त दिया गया है कि जिस प्रकार बीज के जल जाने पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता है उसी प्रकार कर्म बीज के भस्म हो जाने पर भवांकुर उत्पन्न नहीं होता हैं।[2]

कर्मबन्ध के कारण कषाय और योग हैं। इन दोनों कारणों के सद्भाव में ही कर्म का बन्ध होता है, इनके अभाव में नहीं। बन्ध के विषय में आचार्य उमास्वाति ने बतलाया है कि जीव कषाय सहित होने के कारण कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। इसी का नाम बन्ध है।[3] शुद्ध आत्मा में कर्म का बन्ध नहीं होता है, किन्तु कषायवान् आत्मा ही कर्म का बन्ध करता है। कषाय सहित आत्मा प्रत्येक समय कर्म का बन्ध करता रहता है। रागद्वेषरूप भाव कर्म का निमित्त पाकर द्रव्य कर्म आत्मा से बंधता है और द्रव्य कर्म के निमित्त से आत्मा में रागद्वेषरूप भाव कर्म की उत्पत्ति होती है। इस विषय में जिनसेनाचार्य ने महापुराण में कहा है कि यह अज्ञानी जीव इष्ट और अनिष्ट संकल्प द्वारा वस्तु में प्रिय और अप्रिय की कल्पना करता है। इससे राग-द्वेष उत्पन्न होता है, और इस रागद्वेष से द्रव्य कर्म का बन्धन होता है। इस प्रकार राग-द्वेष के निमित्त से संसार का चक्र चलता

---

1. जह भारवहो पुरिसो वहइ भरं गेहिऊण कावडियं।
   एमेव वहइ जीवो कम्मभरं कायकावडियं ॥—गोमट्टसार जीवकांड 102
2. दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः।
   कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः ॥—तत्त्वार्थसार, 7
3. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।—तत्त्वार्थसूत्र 8।2

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहता है।[1]

कर्म के विषय में महाकवि तुलसीदास ने रामचरितमानस में कहा है—

कर्मप्रधान विश्व करि राखा। जो जस करहि सो तस फल चाखा।।

अतः इस में कोई सन्देह नहीं है कि विश्व में कर्म की प्रधानता है और यह भी निश्चय है कि जो प्राणी जैसा कर्म करता है उसको वैसा सी फल मिलता है।

कर्म से मुक्ति

यह सब के अनुभवों में आता है कि जीव कर्मों से बन्धा हुआ है और कर्म-बद्ध होने के कारण ही वह मनुष्य, तिर्यञ्च आदि चारों गतियों में जन्म लेकर जन्म, जरा, मरण, क्षुधा, तृषादि के अनेक दुःख भोगा करता है। तब प्रश्न यह है कि इस कर्म से मुक्ति का कोई उपाय है या नहीं? यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि यद्यपि कर्मबन्धन अनादिकाल से चला आ रहा है किन्तु वह सान्त है। जैनदर्शन के अनुसार संवर और निर्जरा के द्वारा कर्म का क्षय संभव है। संवर का अर्थ है कर्म आगमन को रोक देना। जब हम संवर के द्वारा भविष्य में बंधने वाले कर्मों का आना रोक देंगे और जो कर्म पहले से आत्मा में विद्यमान हैं उनकी निर्जरा कर देंगे तो ऐसी स्थिति में कर्म का सर्वथा नाश हो जाने से यह जीव सर्वथा शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इसी अवस्था का नाम मुक्ति या मोक्ष है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों का नाश हो जाने पर यह आत्मा अर्हन्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है और केवली, सर्वज्ञ. परमात्मा आदि शब्दों से व्यवहृत होता है। कैवल्य प्राप्ति के अनन्तर वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु इन चार अघातिया कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा की सर्वथा शुद्ध अवस्था हो जाती है और इस अवस्था को प्राप्त आत्मा को सिद्ध परमात्मा कहते हैं। जो जीव संसार से सर्वथा मुक्त हो जाता है, वह संसार में फिर कभी लौट कर नहीं आता है, क्योंकि संसार में उसके पुनः आने का कोई कारण शेष नहीं रहता है। यही कारण है कि जैनदर्शन ने मुक्त जीव का संसार में पुनः अवतरण या अवतार नहीं माना है।

यह स्मरणीय है कि जैनदर्शन की दृष्टि से अध्यात्म के क्षेत्र में सब जीवों को समानरूप से पूर्ण अधिकार प्राप्त है। अर्थात् प्रत्येक जीव को अपना सर्वोच्च

---

1. संकल्पवशो मूढः वस्त्विष्टानिष्टतां नयेत्।
रागद्वेषौ ततस्ताभ्यां बन्धं दुर्मोचमश्नुते।।—महापुराण 24।21

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकास करने का समान अधिकार प्राप्त है और वह कर्मनाश के अनन्तर अनन्त-ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य आदि गुणों की प्राप्ति करके सर्वज्ञ सर्वदर्शी, भगवान्, परमात्मा इत्यादि नामों से अभिहित किया जाता है। यहाँ ईश्वर पद का अधिकार किसी एक आत्मा में निहित नहीं है किन्तु प्रत्येक आत्मा परमात्मा बनने की अधिकारी है और समय आने पर वह वैसा बन भी जाता है। जैनदर्शन की यह सब से बड़ी विशेषता है।

जैनदर्शन में मोक्षतत्त्व

जैनदर्शन में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व बतलाये गये हैं। इन सात तत्त्वों के विवेचन के लिए आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र नामक ग्रन्थ की रचना की जिसका मुख्य विषय मोक्ष और मोक्ष का मार्ग है। इसी लिए तत्त्वार्थसूत्र का दूसरा नाम मोक्ष शास्त्र भी है। इसमें 10 अध्याय हैं। इसके प्रथम अध्याय का प्रथम सूत्र[1] मोक्ष मार्ग का प्रतिपादन करता है और दसवें अध्याय में मोक्ष का स्वरूप बतलाया गया है। अर्थात् इसका प्रारम्भ मोक्षमार्ग से हो कर पर्यवसान मोक्ष तत्त्व में होता है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए जीव आदि 6 तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक है। इसीलिए प्रारम्भ के 9 अध्यायों में जीवादि 6 तत्त्वों का विवेचन करने के बाद ही दसवें अध्याय में मोक्ष तत्त्व का विवेचन किया गया है, जो इस प्रकार है :[2]

ज्ञानावरणादि सम्पूर्ण कर्मों के आत्यन्तिक क्षय हो जाने का नाम मोक्ष है और यह क्षय बन्ध के हेतुओं का अभाव हो जाने से तथा निर्जरा से होता है। बन्ध के हेतु 5 हैं[3]—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। जब सम्यग्दर्शन आदि के द्वारा मिथ्यादर्शन आदि का अभाव कर दिया जाता है तब मिथ्यादर्शन आदि के द्वारा आने वाले कर्मों का आगमन रुक जाता है। इसी का नाम संवर है। संवर के द्वारा नवीन कर्मों का बन्ध रुक जाता है। तब पूर्व में संचित कर्मों की सविपाक या अविपाक निर्जरा की जा सकती है। इस प्रकार निर्जरा द्वारा संचित कर्मों का पूर्ण क्षय हो जाता है। यह स्मरणीय है कि सम्पूर्ण कर्मों का क्षय एक साथ नहीं होता है किंतु इस की प्रक्रिया चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ होती है और समाप्ति चौदहवें गुणस्थान में होती है। यही कारण है कि चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में यह जीव सर्वथा मुक्त हो जाता है।

---

1. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।—तत्त्वार्थसूत्र 1।1
2. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः—तत्त्वार्थसूत्र 10।2
3. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः—तत्त्वार्थसूत्र 8।1

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्ष के विषय में आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में बतलाया है[1] कि सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाने पर जीव को जो स्वात्म लाभ होता है वह मोक्ष है। जीव के अभाव का नाम अथवा किन्हीं गुणों के अभाव का नाम मोक्ष नहीं है, जैसा कि कुछ दार्शनिकों ने बतलाया है।

अब प्रश्न यह है कि कर्ममुक्त होने पर जीव की स्थिति कहां होती है? इसका उत्तर यह है कि कर्म मुक्त जीव तुरन्त ही ऊपर की ओर लोक के अन्त तक गमन करता है और वहाँ पहुंच कर सिद्धशिला में विराजमान हो जाता है।। मुक्ति मनुष्यगति से ही होती है, अन्य किसी गति से नहीं। मनुष्यों का सद्भाव ढाईद्वीप (जम्बूद्वीप, धातुकी खण्डद्वीप और आधा पुष्करवर द्वीप) और उनके बीच में आये हुए दो समुद्रों (लवणोदधि और कालोदधि) में पाया जाता है। इस समस्त क्षेत्र का विस्तार 45 लाख योजन है। मुक्त जीवों का लोक (सिद्धशिला) भी मनुष्य लोक के ठीक ऊपर है इसलिए मुक्त होते ही यह जीव ठीक सीध में ऊपर चला जाता है। मुक्तजीव की यह लोकान्त प्राणी गति क्यों होती है इस विषय में सूत्रकार ने चार हेतु दिये हैं।[2] और उनकी पुष्टि में चार उदाहरण भी दिये हैं।[3] 1. पूर्व के प्रयोग से, 2. संग का अभाव होने से, 3. बन्धन टूटने से और 4 उर्ध्व-गमन करने का स्वभाव होने से यह जीव उर्ध्वगमन करता है, घुमाये गए कुम्भ-कार के चक्र के समान, लेप से मुक्त हुई तूंबड़ी के समान, एरण्ड के बीज के समान और अग्नि की शिखा के समान। पूर्व प्रयोग का अर्थ है पूर्व संस्कार से प्राप्त हुआ वेग। जिस प्रकार कुंभकार के द्वारा जोर से घुमाये जाने के बाद हाथ हटा लेने पर भी चक्र पूर्व प्रयोग के कारण कुछ देर तक घूमता रहता है, उसी प्रकार संसारी आत्मा ने मोक्ष की प्राप्ति के लिए पूर्व में अनेक बार जो प्रयत्न किये थे उन्हीं के कारण उसका उर्ध्वगमन होता है। संगरहित अथवा कर्मभाररहित होने से जीव उर्ध्वगमन करता है। जैसे तूंबड़ी पर मिट्टी का लेप कर देने से भार के कारण वह नीचे चली जाती है, किन्तु मिट्टी के लेप के दूर होते ही वह पानी के ऊपर आ जाती है, वैसे ही कर्मभार से दबा हुआ आत्मा संसार में परिभ्रमण करता है, किन्तु कर्मभार के दूर होते ही वह ऊपर चला जाता है। बन्धन के टूट जाने से जीव ऊर्ध्वगमन करता है। जैसे फली के अन्दर स्थित एरण्ड बीज ऊपर के छिलके के हटते ही छिटक कर ऊपर को जाता है वैसे ही कर्मबन्धन से मुक्त होते ही यह जीव ऊपर चला जाता है। ऊर्ध्वगमन करने के स्वभाव के कारण भी मुक्त जीव ऊपर की

---

1. निःशेषकर्मनिर्मोक्षः स्वात्मलाभोऽभिधीयते।
   मोक्षो जीवस्य नाभावो न गुणाभावमात्रकम्॥
   —तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 4 पृ० 58
2. पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च— तत्त्वार्थसूत्र 10।6
3. आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च।
   —तत्त्वार्थसूत्र 10।16

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओर गमन करता है। जैसे वायु के अभाव में अग्नि की शिखा स्वभाव से ऊपर का ओर जाती है, वैसे ही मुक्त जीव कर्म के दूर होते ही स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करता है।

अब प्रश्न यह है कि मुक्त जीव लोक के अन्त में अर्थात् सिद्धशिला में पहुंच कर क्यों रुक जाता है, उसके आगे अलोकाकाश में क्यों नहीं चला जाता ? इसका उत्तर आचार्य ने यह दिया है कि जीव और पुद्गल के गमन करने में धर्मद्रव्य निमित्त कारण होता है। अलोकाकाश में केवल आकाश ही है, धर्म आदि अन्य द्रव्य नहीं हैं। अतः धर्म द्रव्य के अभाव के कारण[1] मुक्त जीव का गमन ऊपर लोक के अन्त तक ही होता है, उसके आगे नहीं।

मोक्ष के विषय में जान लेने के पश्चात् यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि मोक्ष का मार्ग क्या है जिस पर चल कर अपने लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त किया जा सकता है। इस विषय में मोक्षशास्त्र के प्रथम सूत्र में बतलाया गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों मिल कर मोक्ष के साधन हैं। दर्शन, ज्ञान और चरित्र ये तीनों सम्यक् भी होते हैं और मिथ्या भी। अतः मिथ्या की निवृत्ति के लिए दर्शन आदि तीनों के साथ सम्यक् विशेषण लगाना आवश्यक है। मिथ्यादर्शनादि संसार के कारण होते हैं और सम्यक् दर्शनादि मोक्ष के कारण होते हैं। दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय या क्षयोपशमरूप अन्तरङ्गकारण से जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं।[2] इस अन्तरंग कारण की पूर्णता कहीं निसर्ग (स्वभाव) से होती है और कहीं अधिगम (परोपदेश) से होती है। इस प्रकार सम्यक्दर्शन निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का होता है। दर्शन मोहनीय कर्म के उपशमादि की अपेक्षा से औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक के भेद से सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का भी होता है। प्रमाण और नयों के द्वारा जीवादि सात तत्त्वों का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित जो यथार्थज्ञान होता है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं।[3] मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवल के भेद से सम्यग्ज्ञान पाँच प्रकार का होता है। संसार के कारणभूत रागद्वेषादि की निवृत्ति के लिए ज्ञानवान् पुरुष का शरीर और वचन की बाह्य क्रियाओं से तथा आभ्यन्तर मानसक्रिया से विरत होने का नाम सम्यक्चारित्र है।[4] सम्यक्चारित्र के 5 भेद हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म-साम्पराय और यथाख्यात।

मोक्ष के उक्त तीन साधन क्रम से पूर्ण होते हैं। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन पूर्ण

---

1. धर्मास्तिकायाभावात्।—तत्त्वार्थसूत्र 10। 8
2. प्रणिधानविशेषाहित-द्वैविध्यजनित-व्यापारं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।
—तत्त्वार्थवार्तिक
3. नयप्रमाण-विकल्पपूर्वको जीवाद्यर्थयाथात्म्यावगमः सम्यग्ज्ञानम्।—तत्त्वार्थवार्तिक
4. संसारकारणविनिवृत्तिप्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतो बाह्याभ्यन्तर-क्रियाविशेषोपरमः सम्यक्चारित्रम्।—तत्त्वार्थवार्तिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है, तदनन्तर सम्यग्ज्ञान और अन्त में सम्यक्चारित्र पूर्ण होता है। इनमें से एक भी साधन के अपूर्ण रहने पर मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। तेरहवें गुणस्थान के प्रारंभ में यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्ण हो जाते हैं फिर भी सम्यक्चारित्र के पूर्ण न होने से मोक्ष नहीं होता है। चरित्र की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है। यद्यपि चारित्र मोहनीय का अभाव हो जाने से बारहवें गुणस्थान में चारित्र की पूर्णता प्राप्त है तथापि चारित्र की पूर्णता केवल चारित्रमोहनीय के अभाव से न हो कर योग और कषाय अभाव से होती है। योग तेरहवें गुणस्थान के अन्त तक बना रहता है, इसलिए तेरहवें गुणस्थान में चारित्र को अपूर्ण बतलाया गया हैं। उक्त तीनों साधनों में से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में साहचर्य सम्बन्ध है। जिस समय दर्शनमोहनीय के उपशम या क्षयोपशम से मिथ्यादर्शन की निवृत्तिपूर्वक सम्यग्दर्शन होता है उसी समय मिथ्याज्ञान की भी निवृत्ति होकर सम्यग्ज्ञान हो जाता है। जैसे आकाश में मेघ पटल के दूर होने पर सूर्य का प्रताप और प्रकाश एक साथ प्रकट हो जाते हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी एक ही साथ व्यक्त होते हैं। इसलिए ये दोनों सहचारी हैं। किन्तु सम्यक्चारित्र का इस विषय में अनियम है। अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ चारित्र हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। किसी में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ ही चारित्र प्रकट होता है और किसी में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रकट होने के कुछ काल बाद सम्यक् चारित्र होता है।

मोक्ष मार्ग का एकत्व

सूत्र में 'मोक्षमार्गः' इस प्रकार एक वचन के प्रयोग से सूचित होता है कि मोक्ष के तीन मार्ग नहीं हैं किन्तु सम्यग्दर्शनादि तीन का एकत्व ही मोक्ष का मार्ग है। इन तीनों के एकत्व से आत्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से सर्वथा रहित हो जाता है। इसलिए इन तीनों का एकत्व ही मोक्ष का एक मार्ग है। सम्यग्दर्शनादि तीनों की एकता आवश्यक भी है। जिस प्रकार रोगी को नीरोग होने के लिए औषधि का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण तीनों आवश्यक हैं, तीनों में से एक के बिना भी उसका रोग दूर नहीं हो सकता है, इसी प्रकार भवरोगी के लिए भी सम्यग्दर्शनादि तीनों आवश्यक हैं। कहा भी है—

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलांधको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः।।
संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञाः नह्येकचक्रेण रथः प्रयाति।
अन्धश्च पंगुश्च वने प्रविष्टौ तौ संप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ।।
—तत्त्वार्थवार्तिक पृ. 14

आचरणरहित ज्ञान व्यर्थ है और अज्ञानियों का आचरण व्यर्थ है। किसी वन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में आग लगने पर अन्धा आदमी दौड़ता हुआ भी जल जाता है और लंगड़ा आदमी देखता हुआ भी जल जाता है। संयोग के अभाव में यह सब दुर्गति होती है। एक चक्र से रथ नहीं चल सकता है। अन्धा और लंगड़ा यदि परस्पर में मिल कर कार्य करें तो लंगड़ा अन्धे के कन्धे पर बैठ कर अन्धे को मार्गदर्शन करा सकता है और इस प्रकार वे दोनों आसानी से नगर में प्रविष्ट हो सकते हैं।

मोक्ष की परोक्षता

मोक्ष प्रत्यक्ष नहीं है, परोक्ष है। इसलिए कोई मोक्ष की सत्ता में शंका कर सकता है। किन्तु आगम तथा अनुमान प्रमाण से मोक्ष की सिद्धि होती है। इसी-विषय में आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में कहा हैं—

परोक्षमपि निर्वाणमागमात् संप्रतीयते ।
निर्बाधाद् भाविसूर्यादिग्रहणाकार भेदवत् ॥
शारीरमानसासातप्रवृत्तिर्विनिवर्तते ।
क्वचित् तत्कारणाभावाद् घटीयंत्रप्रवृत्तिवत् ॥

जिस प्रकार आगे होने वाले सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण आदि का ठीक ठीक ज्ञान ज्योतिष शास्त्र से हो जाता है कि इस दिन इतने बजे इतने अंश में अमुक देश में सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण होगा, उसी प्रकार सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित आगम से निर्वाण का ज्ञान होता है। अनुमान प्रमाण से भी मोक्ष का ज्ञान होता है। जैसे धुरे के घूमने से घटीयंत्र घूमता है और उसमें जुते हुए बैल के घूमने पर धुरा घूमता है पर यदि बैल का घूमना रुक जाय तो धुरे का घूमना रुक जाता है और धुरा के रुक जाने पर घटीयंत्र का घूमना बन्द हो जाता है, उसी प्रकार कर्मोदयरूपी बैल के चलने पर ही चारगतिरूपी धुरे का चक्र चलता है और चतुर्गतिरूपी धुरा ही अनेक प्रकार की शारीरिक, मानसिक आदि वेदनारूपी घटीयंत्र को घुमाता रहता है। कर्मोदय की निवृत्ति हो जाने पर चतुर्गति का चक्र रुक जाता है और उसके रुक जाने पर संसार रूपी घटीयंत्र का चलना भी बन्द हो जाता है। क्योंकि कारण के अभाव में कार्य नहीं होता है। इसी का नाम मोक्ष है।

इस प्रकार जैनदर्शन के अनुसार मोक्ष तत्त्व का विचार करने के बाद अब अन्य भारतीय दर्शनों में मोक्ष तत्त्व की क्या व्यवस्था है इस पर विचार किया जाता है।

बौद्धदर्शन

बौद्धदर्शन के अनुसार निर्वाण निरोधरूप है। तृष्णादिक क्लेशों का निरोध हो जाना ही निर्वाण है। भदन्त नागसेन ने मिलिन्दप्रश्न में बतलाया है कि निर्वाण के बाद व्यक्ति का सर्वथा अभाव हो जाता है। जिस प्रकार जलती हुई आग की लपट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुझ जाने पर दिखलाई नहीं जा सकती उसी प्रकार निर्वाण प्राप्त हो जाने के बाद व्यक्ति दिखलाया नहीं जा सकता। इसी प्रकार अश्वघोष ने सौन्दरनन्द काव्य में निर्वाण के विषय में लिखा है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिंगच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
—सौन्दरनन्द 16।28,29

जिस प्रकार बुझा हुआ दीपक न तो पृथ्वी में जाता है, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में और न किसी विदिशा में किन्तु तेल के नाश हो जाने से वह केवल शान्ति को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार निर्वाण को प्राप्त व्यक्ति भी न पृथ्वी में जाता है, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में और न किसी विदिशा में किन्तु क्लेश के क्षय हो जाने पर वह शान्ति प्राप्त कर लेता है। बौद्धदर्शन में निर्वाण की यही सामान्य कल्पना है। निर्वाण शब्द का अर्थ है बुझ जाना। जिस प्रकार दीपक तब तक जलता रहता है जब तक उसमें तेल और बत्ती की सत्ता है, परन्तु तेल और बत्ती के समाप्त होते ही दीपक स्वतः शान्त हो जाता है, उसी प्रकार तृष्णा आदि क्लेशों का नाश हो जाने पर यह जीवन भी स्वतः शान्त हो जाता है। यही निर्वाण है।

बौद्धों के दो विशेष सम्प्रदाय हैं—हीनयान और महायान। हीनयान के अनुसार निर्वाण में क्लेशावरण का ही नाश होता है किन्तु महायान के अनुसार निर्वाण में ज्ञेयावरण का भी नाश हो जाता है। एक दुःखाभावरूप है तो दूसरा आनन्दरूप।

उक्त प्रकार के निर्वाण की कल्पना सर्वथा असंगत है। इस प्रकार के निर्वाण में तो कुछ भी शेष नहीं रहता है। निर्वाण तो वह है जिसमें आत्मा अपने अनन्त ज्ञानादि गुणों की अनुभूति में सदा लीन रहता है।

न्याय वैशेषिक दर्शन

न्यायदर्शन में दुःख के अत्यन्त विमोक्ष को मोक्ष कहा गया है।[1] दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति निम्न प्रकार से होती है—तत्त्वज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर मिथ्याज्ञान का नाश हो जाता है और मिथ्याज्ञान के अभाव में क्रमशः दोष, प्रवृत्ति, जन्म और दुःख का नाश होने पर अपवर्ग की प्राप्ति होती है। नैयायिक-

1. तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः।—न्यायसूत्र 1।1।22
2. दुःख-जन्म-प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।
—न्यायसूत्र 1।1।23

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैशेषिक मुक्ति की एक विशेषता यह है कि ये लोग मुक्ति में बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार, आत्मा के इन नौ विशेष गुणों का नाश मानते हैं।[1] यद्यपि ज्ञान आदि आत्मा के गुण हैं किन्तु ये गुण आत्मा से भिन्न हैं और समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहते हैं। जब तक संसार है तभी तक इन गुणों का आत्मा में सद्भाव रहता है और मोक्ष में इन गुणों का पूर्णरूप से अभाव हो जाता है। बुद्धि आदि गुणों का विनाश हो जाने पर भी गुणी आत्मा का विनाश नहीं होता है। क्योंकि गुण और गुणी में अत्यन्त भेद माना गया है। उन दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध मानने पर उक्त दोष संभव है।

उक्त मत के अनुसार मुक्ति प्राप्ति का अर्थ है स्वरूप की हानि। इसीलिए श्रीहर्ष ने नैषधचरित में नैयायिक-वैशेषिक मुक्ति का जो उपहास किया है वह विद्वानों के लिए विचारणीय है। श्रीहर्ष ने कहा है—

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गौतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥

—नैषधचरित 17।75

अर्थात् गौतम ने बुद्धिमान् पुरुषों के लिए ज्ञान सुखादि से रहित शिलारूप मुक्ति का उपदेश दिया है। अतः उनका गौतम यह नाम शब्दतः ही यथार्थ नहीं है किन्तु अर्थतः भी यथार्थ है। वह केवल गौ (बैल) न होकर गौतम (अतिशयेन गौः गौतमः) अर्थात् विशिष्ट बैल हैं।

इसी प्रकार वैष्णव दार्शनिकों ने भी वैशेषिक मुक्ति का उपहास किया है। किसी वैष्णव दार्शनिक ने कहा है—

वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम्।
वैशेषिकोक्तमोक्षात्तु सुखलेशविवर्जितात्॥ स. सि. सं.

अर्थात् मुझे शृगाल बनकर वृन्दावन के निकुंजों में जीवन बिताना श्रेष्ठ है किन्तु मैं सुख से रहित वैशेषिक मुक्ति पसन्द नहीं करता हूं। वैशेषिक मुक्ति की अपेक्षा वृन्दावन के वन में शृगाल होना इसलिए अच्छा है क्योंकि वहाँ खाने को हरी घास और पीने को ठण्डा पानी तो मिलेगा।

सांख्य दर्शन

सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष के संसर्ग का नाम ही संसार है। जब तक

---

1. बुध्दयादिविशेषगुणोच्छेदादात्मत्वमात्रेऽवस्थानं मुक्तिः।—तत्त्वार्थवार्तिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृति और पुरुष में भेद-विज्ञान नहीं होता, जब तक पुरुष यह नहीं समझता है कि मैं प्रकृति से सर्वथा भिन्न हूं, तभी तक संसार की स्थिति है। प्रकृति और पुरुष में भेद-विज्ञान होते ही पुरुष प्रकृति के संसर्गजन्य आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों प्रकार के दुःखों से छूट जाता है। यही मुक्ति है वास्तव में बन्ध और मोक्ष प्रकृति के ही धर्म हैं, पुरुष के नहीं। इसीलिए ईश्वर कृष्ण ने कहा हैं कि पुरुष न तो बन्ध का अनुभव करता है, न मोक्ष का, और न संसार का, किन्तु प्रकृति ही बन्ध, मोक्ष और संसार का अनुभव करती है[1]। पुरुष की मुक्ति के लिए ही प्रकृति का समस्त व्यापार होता है। जिस प्रकार अचेतन दूध की प्रवृत्ति बछड़े की वृद्धि के लिए होती है उसी प्रकार अचेतन प्रधान की प्रवृत्ति भी पुरुष के मोक्ष के लिए होती है[2]। जिस प्रकार उत्सुकता या इच्छा की निवृत्ति के लिए पुरुष लौकिक क्रियाओं में प्रवृत्ति करता है उसी प्रकार प्रधान तत्त्व पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्ति करता है[3]। प्रकृति उस नर्तकी के समान है जो रंगस्थल में उपस्थित दर्शकों के सामने अपनी कला को दिखलाकर रंगस्थल से दूर हट जाती है। इसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष को अपना व्यापार दिखलाकर पुरुष के सामने से हट जाती है[4]। वास्तव में प्रकृति से सुकुमारतर अन्य कोई दूसरा नहीं है। प्रकृति इतनी लज्जाशील है कि एकबार पुरुष के द्वारा देखे जाने पर पुनः पुरुष के सामने नहीं आती है। अर्थात् पुरुष से फिर संसर्ग नहीं करती हैं[5]। प्रकृति को देख लेने पर पुरुष उसकी उपेक्षा करने लगता है तथा पुरुष के द्वारा देखे जाने पर प्रकृति पुरुष के प्रति अपने व्यापार से विरक्त हो जाती है। उस अवस्था में दोनों का संयोग होने पर भी सृष्टि का कोई प्रयोजन न रहने से सृष्टि नहीं होती है[6]। अतः प्रकृति और पुरुष के भेदविज्ञान का नाम ही मोक्ष है।

सांख्य दर्शन की एक विशेषता यह है कि यहां ज्ञान और चैतन्य में भेद माना गया है। ज्ञान पुरुष का धर्म या गुण नहीं है किन्तु प्रकृति का कार्य है। पुरुष का

---

1. तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥ सांख्य का. 62
2. वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुष-विमोक्ष-निमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥ सांख्य का. 57
3. औत्सुक्यनिवृत्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्॥ सांख्य का. 58
4. रङ्गस्य दर्शयित्वा विनिवर्तते नर्तकी यथानृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः। सांख्य का. 59
5. प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥ सांख्य का. 61
6. दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य॥ सांख्यका. 65

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूप तो केवल चैतन्यमात्र है। इसलिए चैतन्यमात्र स्वरूप में अवस्थान का नाम मोक्ष माना गया है[1]। जब कि अनन्तज्ञानादि स्वरूप चैतन्य विशेष में अवस्थान को मोक्ष कहना चाहिए[2]।

वेदान्त दर्शन

ब्रह्मसूत्र के रचयिता बादरायण वेदान्तदर्शन के प्रमुख आचार्य हैं। बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में समस्त उपनिषदों का सार संगृहीत किया है। अतः ब्रह्मसूत्र का दूसरा नाम वेदान्त सूत्र भी है। ब्रह्मसूत्र पर शंकर, भास्कर, रामानुज आदि अनेक आचार्यों ने भाष्य की रचना की है। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि की है। संसार के सब पदार्थ मायिक हैं। अर्थात् माया के कारण ही उनकी सत्ता प्रतीत होती है। जब तक ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता है तभी तक संसार की सत्ता है। जैसे किसी पुरुष को रस्सी में सर्प का ज्ञान हो जाता है किन्तु वह ज्ञान तभी तक रहता है जब तक कि 'यह रस्सी है, सर्प नहीं,' इस प्रकार का सम्यग् ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार रस्सी में सर्प की कल्पित सत्ता रस्सी के विषय में सम्यग् ज्ञान होने तक ही रहती है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान न होने तक ही संसार की सत्ता है और ब्रह्मज्ञान होते ही यह जीव अपनी पृथक् सत्ता को खोकर ब्रह्म में लीन हो जाता है। यही जीव की मुक्ति है। रामानुज के अनुसार मोक्ष अवस्था में यद्यपि जीव ब्रह्म में मिल जाता है फिर भी वह अपने अस्तित्व को खो नहीं देता किन्तु उसका पृथक् अस्तित्व बना रहता है।

वेदान्तियों ने मोक्ष के विषय में कहा है—

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते।

ब्रह्म या आत्मा का स्वरूप आनंद है और मोक्ष में उस आनन्द की अभिव्यक्ति होती है।

मोक्ष में आनन्द की अभिव्यक्ति मानना तो ठीक है किन्तु आत्मा का स्वरूप केवल आनन्द है और उसको प्राप्त करना ही मोक्ष है, ऐसा मानना ठीक नहीं है। आत्मा का स्वरूप केवल आनन्द ही नहीं है किन्तु ज्ञान-दर्शन भी है और मोक्ष में अनन्त सुख की प्राप्ति के साथ ही अनन्त ज्ञानादि की भी प्राप्ति होती है।

चार्वाक दर्शन

चार्वाक दर्शन के प्रवर्तक बृहस्पति माने जाते हैं। चार्वाक के जीवन का

---

1. स्वरूपे चैतन्यमात्रेऽवस्थानं मोक्ष इति।
2. चैतन्यविशेषेऽनन्तज्ञानादिस्वरूपेऽवस्थानस्य मोक्षत्वसाधनात्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्ष्य है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत: ।।

अर्थात् जब तक जिओ सुखपूर्वक जिओ । यदि सुखपूर्वक जीने के साधन न हों तो ऋण ले कर घृत, दूध आदि खाओ, पीओ । अगले जन्म में ऋण चुकाने की चिन्ता करना भी व्यर्थ है । क्योंकि मृत्यु के उपरान्त शरीर के भस्मीभूत हो जाने पर जीव का पुनर्जन्म नहीं होता है । पुनर्जन्म के अभाव में अगले जन्म में ऋण चुकाने का प्रश्न ही नहीं है । चार्वाक पुण्य, पाप, आत्मा, मोक्ष, परलोक, स्वर्ग, नरक आदि कुछ भी नहीं मानते हैं । चार्वाक दर्शन में शरीर से पृथक् कोई आत्मा नहीं मानी गई है । पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों के परस्पर में मिलने से एक विशेष शक्ति की उत्पत्ति होती है । इसी शक्ति का नाम आत्मा है । यह शक्ति शरीर की उत्पत्ति के साथ उत्पन्न होती है और शरीर के नाश के साथ ही नष्ट हो जाती है । अत: चार्वाकिदर्शन में मृत्यु का नाम ही मोक्ष है । मरणमेवापवर्ग: ।

अन्य दर्शनों में मोक्ष के साधन

अधिकांश दर्शनों ने ज्ञान को मोक्ष का साधन माना है । उनका कहना है कि अज्ञान से बन्ध होता है और ज्ञान से मोक्ष होता है । सांख्यदर्शन में बतलाया गया है—

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण ।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्ध : ।।—सांख्य का. 44

धर्म से ऊर्ध्वलोक में गमन होता है और अधर्म से अधोलोक में गमन होता है । ज्ञान से अपवर्ग (मोक्ष) होता है और अज्ञान से बन्ध होता है ।

भगवद्गीता में कहा है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुते क्षणात् ।
ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।।
—भगवद्गीता 4/37

अर्थात् जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नि क्षणमात्र में इन्धन को भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मों को क्षणमात्र में भस्म कर देती है ।

बौद्धदर्शन में भी 'अविद्याप्रत्यया: संस्कारा:' इत्यादि प्रकार से द्वादशांग प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त द्वारा यह बतलाया गया है कि अविद्या से बन्ध होता है और विद्या से मोक्ष होता है । सांख्यदर्शन में तो प्रकृति और पुरुष के भेदविज्ञान से मोक्ष माना ही गया है । न्याय-वैशेषिक दर्शन में भी तत्त्वज्ञान द्वारा मिथ्याज्ञान का अपाय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने पर ही दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष माना गया है। इस प्रकार प्रायः सभी दर्शनों ने श्रद्धान और आचारणरहित ज्ञानमात्र से मोक्ष माना है।

उपसंहार

जैनदर्शन में मोक्ष के सम्बन्ध में जैसा तथ्यपूर्ण विचार प्रस्तुत किया गया है वैसा विचार अन्य किसी दर्शन में नहीं मिलता है। कर्मबद्ध आत्मा का संसार अवस्था में जो स्वरूप आच्छादित या अप्रकट रहता है वही अनन्त ज्ञानादि स्वरूप मुक्त अवस्था में पूर्णरूप से प्रकट हो जाता है। बन्धन या परतन्त्रता किसी को प्रिय नहीं है। एक पक्षी को स्वर्ण के पिंजड़े में भी बन्द रहना पसन्द नहीं है। यदि किसी पुरुष को स्वर्ण की बेड़ियां पहना कर जेल में रखा जाय तो वह बन्धन भी उसे पसन्द नहीं होगा। प्रत्येक प्राणी बन्धन से छूटना चाहता है। अतः बन्धन से छूटने के बाद उसे विशिष्ट स्वरूप या सुख आदि की उपलब्धि होना स्वाभाविक है। यदि मुक्त अवस्था में आत्मा का अस्तित्व ही न रहे अथवा वह अपने ज्ञानादि स्वरूप को खो दे तो उक्त प्रकार की मुक्ति को कोई पसन्द नहीं करेगा। जैसा कि नैयायिक-वैशेषिक मुक्ति के विषय में कहा गया है। अतः कर्ममल का क्षय होने पर निष्कलंक अनन्तज्ञानादिरूप आत्मस्वरूप की उपलब्धि को ही मोक्ष मानना युक्तिसंगत है। इसी प्रकार मुक्ति का साधन ज्ञानमात्र को न मान कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूर्णता तथा एकता को मानना भी आवश्यक है।

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्व तत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किंपागफलोवमा विसया

श्री श्रीचन्द रामपुरिया

1. यह एक प्रचलित कहावत है कि विषय किम्पाक फल के तुल्य होते हैं :

चवलो इंदिय-गामो राग-दोसा य दुज्जया लोए।
अणवट्ठियं च चित्तं किंपागफलोवमा विसया ।।[1]

आयारो (3।2) के सूत्र "अरए पयासु" की टीका करते हुए दीपिकाकार ने भी ठीक ऐसी ही बात कही है—

"विषयाः किंपाकफलोपमाः। अतो विषयपराङ्मुखो भवेदिति।"

रामायण के एक प्रसंग में उल्लेख है कि लुब्ध मनुष्य दोषों को वैसे ही नहीं समझता है, जैसे किम्पाक फल के भक्षण करने वाला उसके दुष्परिणाम को —"न लुब्धो बुध्यते दोषान् किंपाकमिव भक्षयन्।"[2]

प्रश्न उठता है कि विषयों को किंपाक फल की उपमा क्यों दी गई ? किंपाक-फल की क्या विशेषता होती है ? यह किस तरह का फल है ?

---

1. सुरसुन्दरी चरिअं 12/138
2. वाल्मीकि रामायण 2/66/6

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐतिहासिक दृष्टि से विषयों की किंपाक फल के साथ तुलना कम-से-कम भगवान् महावीर के युग जितनी प्राचीन है।

2. ओवाइयं में भगवान महावीर के श्रमणों के वर्णन में लिखा है कि वे ऐसे थे, जो विषय-सुख को किंपाक फल के तुल्य मानकर अगार से अनगारिता में प्रव्रजित हुए थे। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तेवासी बहवे समणा भगवंतो—इच्छियभोगा सुहसंपलिया किंपागफलोवमं च मुणिय विसयसोक्खं...मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइया···।[1]

मृगापुत्र सुग्रीव नगर के बलभद्र राजा और उसकी अग्रमहिषी मृगा का पुत्र था। विषयों में उसकी रुचि न रही। संयम में उसकी रुचि उत्पन्न हुई। वह प्रव्रजित होने की सोचने लगा। तब मातापिता से अनुज्ञा प्राप्त करने के लिए उसने उनसे कहा :

अम्मताय ! मए भोगा भुत्ता विसफलोवमा।
पच्छा कडुयविवागा अणुबन्ध दुहावहा ॥
जहा किंपागफलाणं परिणामो न सुन्दरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं परिणामो न सुन्दरो ॥[2]

—माता-पिता ! मैं भोगों को भोग चुका हूं। ये भोग विषफल के तुल्य हैं। भोगने के पश्चात् इनका परिणाम कटुक होता है और ये निरन्तर दुःख देने वाले हैं।

—जिस प्रकार किंपाक फलों के खाने का परिणाम सुन्दर नहीं होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी सुन्दर नहीं होता।

आख्यानकार भगवान महावीर ने अपने पात्रों के मुख से भोगे हुए भोगों का परिणाम आत्मा के लिए वैसा ही घातक बतलाया है जैसा कि किंपाक फल खाने का परिणाम भौतिक देह के लिए होता है।

आगे चलकर भगवान महावीर के द्वारा स्पष्ट किया गया है कि जीवों के जो भी कायिक या मानसिक दुःख हैं वे काम-भोगों की आसक्ति से ही उत्पन्न हैं और इसी प्रसंग में उन्होंने कहा है :

---

1. ओवाइयं, समोसरण पयरणं, सूत्र 23
2. उत्तरज्झयणाणि 19/11,17

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहा य किंपागफला मणोरमा
रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा ।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा ।
एओवमा कामगुणा विवागे ॥[1]

—जैसे किंपाक फल खाते समय रस और वर्ण (तथा गन्ध और स्पर्श) से मनोरम होते हैं और पचने पर क्षुद्र जीवन का नाश कर देते हैं, काम-गुण भी विपाककाल में ऐसे ही होते हैं ।

3. विषय और किम्पाकफल की तुल्यता को उपस्थित करते हुए उत्तरज्झयणाणि की जो गाथाएँ उद्धृत की गई हैं उन्हीं के भाव की एक जातक-कथा पाई जाती है, जो इस प्रकार है :

एक कुलपुत्र बुद्ध-शासन में अत्यन्त श्रद्धा से प्रव्रजित हुआ । एक दिन श्रावस्ती में भिक्षा-चर्या करते हुए एक अलंकृत स्त्री को देखकर आसक्त हो गया । उसके आचार्य-उपाध्याय उसे बुद्ध के पास लाये ।

बुद्ध ने उससे पूछा—"भिक्षु ! क्या तू सचमुच उत्कण्ठित है ।" भिक्षु ने कहा—"बात ऐसी ही है ।"

बुद्ध ने कहा—"हे भिक्षु ! ये पाँच काम-गुण (भोग) भोगने के समय सुन्दर लगते हैं पर उनका भोगना निरय आदि में उत्पत्ति का कारण होने से किंपाकफल सदृश है । किंपाकफल वर्ण, गन्ध तथा रस से युक्त होता है, परन्तु खाने पर आँतों को टुकड़े-टुकड़े कर प्राणों का नाश कर देता है । पहले बहुत से मनुष्य उसके दोष को न जान, उसके वर्ण, गन्ध तथा रस में आसक्त हो उस फल को खाकर प्राण गंवा बैठे ।"

यह कह बुद्ध ने पूर्वजन्म की कथा कही—"पूर्व समय में वाराणसी में राजा ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्त्व ने सार्थवाह के रूप में पाँच सौ गाड़ियों के साथ पूर्व से पश्चिम को जाते समय एक जंगल के द्वार पर पहुंच मनुष्यों को एकत्रित कर उपदेश दिया—"इस जंगल में विषवृक्ष हैं । मेरे बिना पूछे, कोई किसी ऐसे फल को न खाये, जिसे पहले न खाया हो ।"

मनुष्यों ने जंगल को पार कर, उसके छोर पर फलों से लदा हुआ एक किंपाक वृक्ष देखा । उसके टहनियाँ, शाखाएँ, पत्ते तथा फल आकार, वर्ण, रस और गन्ध की

---

1. उत्तरज्झयणाणि 32/20

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टि से आम के सदृश ही थे। उनमें से कुछ ने वर्ण, गन्ध तथा रस की ओर खिंच उन्हें आम के फल समझ कर खा लिया। कुछ 'सार्थवाह को पूछकर खायेंगे' सोच खड़े रहे। बोधिसत्व ने वहाँ पहुँच जो फल लिए खड़े थे उनसे वे फल फेंकवा, जिन्होंने खा लिए थे उन्हें वमन करा दवाई दी। उनमें कुछ तो नीरोग हो गए. लेकिन जो बहुत पहले खा चुके थे, वे मर गए।

शास्ता ने यह कथा कह, अभिसम्बद्ध हो यह गाथा कही :

आयतिं दोसमञ्ञाय यो कामे पतिसेवति।
विपाकन्ते हनन्ति नं किम्पक्कमिव भक्खितं।[1]

जातकअट्ठकथा में स्पष्ट किया है कि विषवृक्ष आम के सदृश किम्पाकवृक्ष होता है। वह सदा फलता रहता है। वर्णादि से सम्पन्न होता है। इससे लोग इसके फल को निःशंक भाव से खा लेते हैं और फलस्वरूप मरण को प्राप्त होते हैं। इसी तरह काम-भोग नित्य नये रूप में फलते रहते हैं। वे रमणीय प्रतीत होते हैं। अतः लोग उनका निःशंक भाव से सेवन करते हैं। पर सेवन करने पर वे प्रमाद उत्पन्न करते हैं और मनुष्य को नरक में डाल देते हैं। जैसे किंपाकफल सदा अनर्थ कारक होता है वैसे ही कामभोग शीलादि का विनाश करने के कारण अनर्थकारी होते हैं।[2]

विषयों को किम्पाकफल की उपमा क्यों दी गई, इसका स्पष्टीकरण उपर्युक्त जैन एवं बौद्ध उल्लेखों से हो जाता है।

किम्पाकफल वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से मन को लुभाने वाले होते हैं वैसे ही विषय-भोग बाह्यतः वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से मनोहर होते हैं। किम्पाकफल खाने में सुस्वादु और मधुर होते हैं, वैसे ही विषय भोग-काल में मधुर लगते हैं। पचने पर खाये हुए किम्पाकफलों का परिणाम दारुण होता है। वे प्राणों का अन्त कर देते हैं। वैसे ही भोगे हुए भोगों का विपाक कटुक होता है। वे आत्मार्थ का हनन कर

---

1. जातक कथा 85। मिलावें जातक कथा 54।
2. Kuṇālajātaka (W. B. Bellee) p. 37 lines 9-21

विषरुक्खो ति अम्बसदिसो किंपक्करुक्खो। सो निच्चं फलति वण्णादि-सम्पन्नो च होति; तेन तं निरासंका परिभुञ्जित्वा मरन्ति। एवं एतापि रूपादि वसेन निच्चफलिता रमणीया विय खायन्ति, सेवियमाना पमादं उप्पादेत्वा अपायेसु पातेन्ति···यथा वा विसरुक्खो निच्चफलितो सदा अनत्थावहो एवं एतापि सीलादिविनासनवसेन,..

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डालते हैं।[1]

इस तरह विषय और किम्पाकफलों में अद्भुत सामञ्जस्य है। भगवान महावीर के अनुसार दोनों में अन्तर है तो इतना ही कि किम्पाकफल सद्यः जीवन का ही अन्त करते हैं जबकि कामगुण अविच्छिन्न दुःखों को उत्पन्न करने वाले होते हैं।

जैन उल्लेख में पहले विषफल और बाद में उसी प्रसंग में किम्पाकफल का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि किम्पाकफल एक विष फल है। बौद्ध उल्लेखों में भी उक्त क्रम से ही विषवृक्ष और किम्पाकवृक्ष का उल्लेख है। इससे भी स्पष्ट है कि किम्पाकवृक्ष एक विषवृक्ष हैं।

कुणाल जातक[1] में स्त्रियों के विषय में पांच बातें कही गई हैं। उनमें से एक हैं—वे विषवृक्ष की तरह नित्य (विषाक्त) फल उत्पन्न करने वाली होती हैं: 'विसरुक्खो विय निच्चफलिताओत्ति।" बाद में गाथा में कहा है:

यथा सिखी नदीवाहो अनिलो कामचार वा
नेरु व अविसेसा च विषरुक्खो व पंचधा
नासयन्ति घरे भोगं रतनान्तकरित्थियो।

अग्नि, नदी की धारा, जहाँ चाहे वहाँ जाने वाली वायु, हीन, मध्यम और उत्कृष्ट में अन्तर न करने वाले नेरु (मेरु) पर्वत और विषवृक्ष की तरह स्त्रियां पांच प्रकार से घर के भोग पदार्थ और धन का नाश करने वाली होती हैं।

अट्ठकथाकार ने यहां विषरुक्खो का अर्थ किम्पाकरुक्खो किया हे—"विसरुक्खोति·····किम्पाकरुक्खो।"

इस तरह विषवृक्ष और किम्पाकवृक्ष एकार्थक ठहरते हैं। बौद्ध उल्लेखों से किम्पाक एक विषवृक्ष विशेष सिद्ध होता है।[2]

---

1. (क) अभिधानराजेन्द्र (भा. 3) पृ. 526: किंपाकफलमिवमुहमहुराओ
   (ख) पाइअ-सद्द-महण्णवो पृ. 242. हुंति मुहिच्चिय महुरा विसया किंपागभूरुहफलं (पुष्पमाला पृ. 392)
   (ग) अभिधानराजेन्द्र (भा. 3) पृ. 526. किम्पाकफलमिवमुखे आदौ मधुरा महाकामरसोत्पादिकाः परं पश्चाद्विपाकदारुणाः।
2. जातक कथा 536
3. जातक कथा 271, 368; जातक कथा 54 एवं 85

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तरज्झयणाणि के टीकाकार शान्तिसूरि के अनुसार भी किम्पाक एक वृक्ष विशेष है ।[1] आ. हेमचन्द्र को भी यही अर्थ अभिप्रेत है ।[2] शृंगार शतक का पूर्व उद्धृत श्लोक भी किंपाक को द्रुम ही कहता है ।

4. कोषकारों के अनुसार किम्पाक लता विशेष है । उन्होंने उसका दूसरा नाम महाकाल लता सूचित किया है ।[3]

व्यंगोक्ति में कथित हैं—ऐसा कौन पुरुष है जो महाकाल फल से ठगे जाने की तरह भीतर से मलिन, बाहर से आह्लादकारी खल शरीर द्वारा न ठगा गया हो ?

अन्तर्मलिन देहेन बाहिराह्लादकारिणा ।
महाकालफलेनेव कः खलेन न वञ्चितः ।।[4]

यहाँ महाकाल फल किंपाकफल का सूचक है।

महाकाल लता के पर्यायवाची नाम उरुकाल, काकमर्दक आदि बताए गए हैं ।[5]

---

1. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति पत्र 454 : किम्पाकोवृक्षविशेषस्तस्य फलान्यतीव सुस्वादानि ।
2. नानार्थसंग्रह पृ. 78 : किम्पाकोवृक्षभिद्यज्ञे ।
3. (क) शब्दकल्पद्रुम (द्वि. भा.) पृ. 128 : किम्पाक : पु. महाकाल लता । इति रत्नमाला । माकाल इति भाषा ।

   (ख) नानार्थसंग्रह पृ. 78 : किम्पाको महाकालफलाज्ञयोः (मेदिनी)

   (ग) वाचस्पत्यम् (भा. 3) पृ. 2050 किम्पाक पुं. (माखाल) महाकाल

   (घ) वही (भा. 6) पृ. 4040 महाकाल लता भेदे ।
4. शब्दकल्पद्रुम (तृ. भा.) पृ. 653 पर उद्धृत—इत्युद्भटः ।
5. (क) पर्यायमुक्तावली, 17 लतावर्ग पृ. 31 : उसकालो, महाकालः किंपाकः काकमर्दकः

   (ख) पर्यायरत्नमाला पृ. 19

   (ग) शब्दकल्पद्रुम (तृ. भा.) पृ.653 । महाकालः लताविशेषः ।
   तत्पर्यायः उरुकालः 2 किम्पाकः 3 काकमर्दकः । इति रत्नमाला । काकमर्दः 5 देवपालिका 6 दाला 7 दालिका 8 जलंग 9 घोषकाकृति 10. इति राजनिर्घण्टः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शालिग्रामनिघण्टु भूषणम् में कारस्कर, किम्पाक, विषतिन्दुक, विषद्रुम, गरद्रुम, रम्यफल, कुपाक, कालकूटक को एक दूसरे का पर्यायवाची माना है।[1]

इस प्रकार एक दृष्टि से महाकाललता, उरुकाल, काकमर्दक आदि किम्पाक के पर्यायवाची हैं और दूसरी दृष्टि से कारस्कर, विषतिन्दुक, विषद्रुम आदि। अतः सहज ही प्रश्न उपस्थित होता है कि किम्पाकफल वृक्ष विशेष का फल है या लता विशेष का ?

5. किंपाक शब्द का अर्थ होता है—जिसका पाक—परिणाम कुत्सित हो।[2] किम्पाकफल अर्थात् वह फल जिसका अन्तिम परिणाम अच्छा न हो। शृंगारशतक का निम्नश्लोक इस बात को स्पष्ट कर देता है—

यदेतत् पूर्णेन्दुद्युतिहरमुदाराकृतिधरं
मुखाब्जं तन्वंङ्याः किल वसति यत्राधरमधु।
इदं तत् किंपाकद्रुमफलमिवातीव विरसं
व्यतीतेऽस्मिन् काले विषमिव भविष्यत्यसुखदम्।[3]

सम्भव है किम्पाक शब्द के उक्त अर्थ को ग्रहण कर विषलता एवं विषवृक्ष दोनों के विषफलों को किंपाकफल की संज्ञा दे दी गई हो। अतः वास्तविक किंपाक फल किस लता या वृक्ष का फल है और वह कैसा होता है यह जानना आवश्यक है।

उक्त विवेचन से इतना तो प्रगट होता है कि किम्पाकफल बाह्य रूप में मोहक होते हैं तथा खाने में सुस्वादु होने से अजानकार लोगों द्वारा बिना हिचकिचाहट खा लिए जाते हैं।

जातक अट्ठकथा (536) के अनुसार किम्पाकवृक्ष आम्रवृक्ष के सदृश होता है—"विसरुक्खो ति अम्बसदिसो किंपक्करुक्खो"। प्रसन्नराघव के अनुसार किम्पाक-

---

1. शालिग्रामनिघण्टुभूषणम् (बृहन्निघण्टुरत्नाकरान्तर्गतौ सप्तमाष्टम् भागो) पृ. 600 :

कारस्करस्तु किंपाको विषतिन्दुर्विषद्रुमः।
गरद्रुमोरम्यफलः कुपाकः कालकूटकः।

2. शब्दकल्पद्रुम (द्वि, भा.) पृ. 128 कुत्सितः पाकः परिणामो यस्य।

3. शतकत्रयादि सुभाषित संग्रह पृ. 38 श्लोक 96

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फल का रंग कपि के होटों जैसा लाल होता है।[1]

6. तिलकमंजरी कथा में मलयसुन्दरी द्वारा आत्महत्या करने के उद्देश्य से किंपाकवृक्ष के फल को खा लेने के प्रसंग में किंपाकवृक्षका अत्यन्त विस्तृत वर्णन इस प्रकार किया है : "मलयसुन्दरी ने निकट ही देखे हुए एक किंपाकवृक्ष के फल को, जो अत्यन्त कोमल, स्पर्श, गन्ध तथा वर्ण से युक्त होते हुए एवं अत्यधिक स्वादिष्ट होते हुए भी विषयसुख के समान परिणाम में अतीव दारुण था, खा लिया। वह वृक्ष स्वभाव से ही काले पर्वत की कालिमा को आकृष्ट करने वाला था, अतः ऐसा प्रतीत होता था मानो शिव के द्वारा पीने से अवशिष्ट समुद्र मंथन से निकली कालकूट विष की राशि हो। घने पत्तों के समूह के कारण ऐसा लगता था मानो सूर्य की किरणें भी मरण के भय से उसमें प्रविष्ट नहीं हो रही थीं। हवा के वेग से सभी शाखाओं के हिलने से वह समस्त अंगों में व्याप्त अपने विष से स्वयं अपना भी विह्वलित होना प्रकट कर रहा था। उसका मूल-प्रदेश इधर-उधर मरे हुए, मूर्च्छित हुए, हिलते हुए, सांस लेते हुए तथा निश्चेष्ट पक्षियों से, जिनकी चोंच में चबाने से बचे हुए फल के टुकड़े थे, लगातार व्याप्त हो रहा था।"[2]

7. हमने ऊपर देखा है कि कारस्कर और किम्पाक पर्यावाची माने गए हैं। शालिग्रामनिघण्टुभूषणम्[3] के अनुसार कारस्कर वृक्ष मध्यम आकार के होते हैं।

---

1. प्रसन्नराघवम् 7-27 :
   अग्रेसरी रघुपते : परिणद्धपाक-
   किम्पाकपाटलमुखी कपिवीरसेना।
   निःशेषमापिबति राक्षसवीरचक्रं
   प्रातः प्रभेव तपनस्य तमिस्रजालम् ॥

2. धनपाल तिलकमंजरी पृ० 334-35 :
   ...संनिधावेव दृष्टस्य स्वभावाकृष्टकज्जलकूटकालिम्नः कालकूटविषराशेरिव मथनसंनिहितशिपिविष्टकवलितावशिष्टस्य विटपहारदूरावर्जितप्रान्तस्य निरन्तरतया पर्णसंहतीनामर्ककिरणैरपि मरणभीतैरिव परिहृताभ्यन्तरप्रवेशस्य मारूताघूर्णितनिखिलशाखानिवहमात्मानमपि सर्वांगव्यापिना निजविषेण विह्वलीकृतमिव प्रकाशयतश्चञ्चुपुटनिविष्टचर्वितावशिष्टफलशकलैरितस्ततो मृतैश्च मूर्च्छितैश्च स्पन्दमानैश्च श्वसद्भिश्च निश्चेतनैर्वनशकुन्तैर्निरन्तराक्रान्त-मूलदेशावकाशस्य किंपाकनाम्नो विद्रुमस्य हृद्यस्पर्शगन्धवर्णमतिशयस्वादुरस- परिपाकं विपाकदारुणतया विषयसौख्यमिव मूर्तिमत्तया परिणतमादाय पाणिना दक्षिणेन क्षीणपुण्या फलमेकमभ्यवहृतवती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राय: वनों में बहुत देखने में आते हैं। पत्ते पान के समान और फल नारंगी के समान सुन्दर-सुन्दर होते हैं। इसके बीजों को कुचला कहते हैं। कारस्कर का पका फल विषद और पाक में मधुर होता है—तत्पक्वं विषदं गुरु। पाके च मधुरं प्रोक्तं···। इस वर्णन के अनुसार किम्पाकफल कुचलावृक्ष का फल है।

वनस्पतिसृष्टि नामक पुस्तक में किंपाकफल का वर्णन इस प्रकार मिलता है : अपक्व अवस्था में नीले रंग का। पकने पर नारंगी के रंग का उसीके जितना उसकी गिरी सहज मधुर होती है। उसे पक्षी और बंदर खाते हैं। फल की गिरी के सिवा सब अंग-कटुक होते हैं। सारा फल जहरीला होता है। इसके बीज को अंग्रेजी में स्ट्रिकनाम नक्सवोमिका (Strychnos Nux vomica) कहा जाता है। यह बटन के आकार का रूपेली. मखमल की तरह मुलायम, अति कठोर, बीच में रकाबी जैसे गड्ढेवाला होता है।[1]

वी. एस. आपटे ने भी किंपाक के विषय में लिखा है—a medical plant, Strychnos Nux vomica कुचला)।[2]

इस तरह स्पष्ट हो जाता है कारस्कर (कुचला) वृक्ष का फल ही किम्पाक-फल होता है।

नीचे किम्पाक वृक्ष, किम्पाक फल और बीज के चित्र दिये जा रहे हैं।

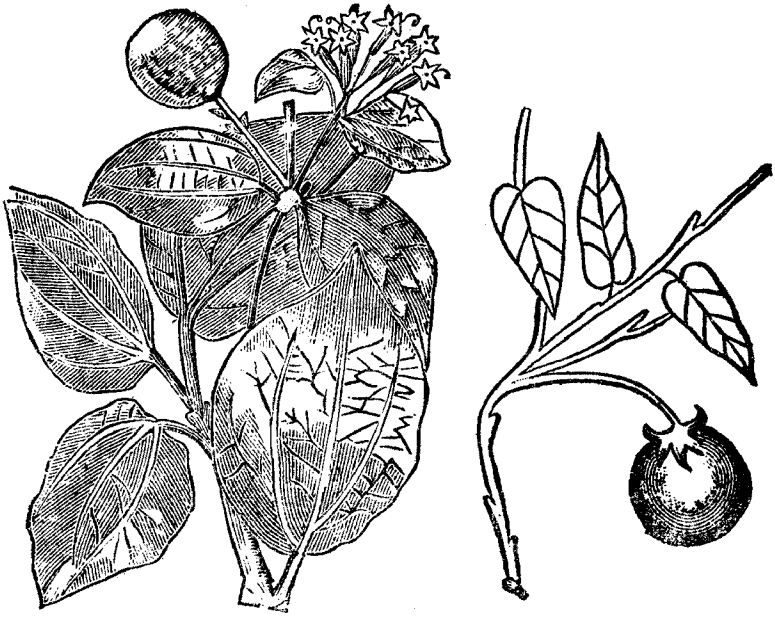

1. वनस्पतिसृष्टि (गुज०) स्कंध बीजो पृ० 61
2. The practical Sanskrit-English Dictionary p. I page : 572

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्याद्वाद के फलित

मुनि नथमल

1. तार्किक जगत् में कार्य-कारण का सिद्धान्त सार्वभौम माना जाता है, किन्तु स्याद्वाद के अनुसार यह सार्वभौम नियम नहीं है। कार्य-कारण का नियम स्थूल जगत् में घटित होता है। सूक्ष्म जगत् का अपना स्वतंत्र नियम है। कर्म शास्त्रीय भाषा में कर्म के विपाक या विलय से जो घटित होता है उसमें कार्य-कारण का नियम खोजा जा सकता है। स्थूल परमाणु-स्कंधों के परिवर्तन में भी कार्य-कारण का नियम लागू होता है। स्वाभाविक परिवर्तन (पारिणामिक भाव) में कार्य-कारण का नियम लागू नहीं होता। एक काले वर्ण का परमाणु निश्चित अवधि के बाद दूसरे वर्ण का हो जाता है। प्रश्न हो सकता है कि उसके वर्ण-परिवर्तन का कारण क्या है ? कोई कारण नहीं है। उसके परिवर्तन के हेतु की व्याख्या नहीं की जा सकती। यह उस परमाणु का स्वगत नियम है। वस्तु का अर्थ-पर्याय (एक क्षणवर्ती पर्याय) कार्य-कारण के नियम से मुक्त होता है। द्रव्य को प्रत्येक क्षण में बदलना पड़ता है। वर्तमान क्षण का अस्तित्व दूसरे क्षण में तभी सुरक्षित रहता है जब वह दूसरे क्षण के अनुरूप अपने आपको ढाल लेता है। अर्थ-पर्याय को अभिव्यक्ति देने वाला एक प्रसिद्ध श्लोक है—

अनादिनिधने लोके, स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम्।
उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते, जलकल्लोलवज्जले ॥

—द्रव्य अनादि और अनन्त है। उसमें प्रतिक्षण स्वपर्याय वैसे ही उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं जैसे जल में तरंगें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्य-कारण के विषय में नयदृष्टि की मीमांसा इस प्रकार है —

नैगम, संग्रह, व्यवहार और व्यंजन पर्यायग्राही ऋजुसूत्र —ये चार नय कार्य-कारण के सिद्धान्त को स्वीकृति देते हैं।

शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत—ये तीन नय कार्य-कारण के सिद्धान्त को मान्य नहीं करते। इनके अनुसार कार्य अपने स्वरूप से उत्पन्न होता है। उसकी किसी दूसरे से उत्पत्ति मानना संगत नहीं है। जो अपने स्वरूप से उत्पन्न हो चुका है, उसकी दूसरे से उत्पत्ति मानना संगत नहीं है। जो अपने स्वरूप से उत्पन्न हो चुका है, उसकी दूसरे से उत्पत्ति मानने का कोई अर्थ नहीं होता। कारण यदि कार्य से अभिन्न हो तो फिर कार्य और कारण का संबंध ही नहीं होता। इसलिए कार्य अपने स्वाभाविक परिणमन से ही उत्पन्न होता है, किसी दूसरे कारण से नहीं।[1]

2. शुद्ध द्रव्यार्थिक नय पर्याय को स्वीकार नहीं करते। अतः उनके अनुसार काल के भूत, भविष्य और वर्तमान—ये तीन विभाग नहीं होते, केवल वर्तमान काल ही होता है।[2] तीनों शब्दनय पर्याय को स्वीकृति देते हैं, इसलिए वे काल के तीन विभाग मान्य करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि द्रव्य का अपरिणामी अंश काल विभाग की अपेक्षा नहीं रखता। अर्थ-पर्याय क्षणवर्ती होता है, इसलिए उसे भी काल-विभाग की अपेक्षा नहीं होती। व्यंजन-पर्याय दीर्घकालीन होता है। अतः उसे काल-विभाग की अपेक्षा होती है।

3. द्रव्य में क्रमवर्ती और अक्रमवर्ती—दोनों प्रकार के धर्म पाए जाते हैं। वह वर्तमान में विवक्षित स्वरूप से है, अन्य काल में उस स्वरूप से नहीं होता। उसमें जैसे काल-भेद से स्वरूप-भेद होता है, वैसे ही साधन आदि से भी स्वरूप-भेद होता है। इस आधार पर प्रकारान्तर से स्याद्वाद के सात भंग बनते हैं[3]—

---

1. कसायपाहुड, भाग 1 पृष्ठ 319 :
एदं णेगम-संगह-ववहार- उजुसुदाणं, तत्थ कज्जकारणभाव-संभवादो। तिण्हं सद्दणयाणं ण केण वि कसाओ, तत्थ कारणेण विणा कज्जुप्पत्तीए। अहवा ओदइएणभावेण कसाओ। एदं णेगमादिचउण्हं णयाणं। तिण्हं सद्दणयाणं पारिणामिएण भावेण कसाओ। कारणेण विणा कज्जुप्पत्तीदो।

2. कसायपाहुड, भाग 1, पृष्ठ 260:
अप्पहाणीकयपरिणामेसु सुद्धदव्वट्ठिएसु णएसु णादीदाणागयवट्टमाणकालविभागो अत्थि।

3. कसायपाहुड, भाग 1, पृष्ठ 309 (जयधवला में उद्धृत) :
कथञ्चित् केनचित् कश्चित् कुतश्चित् कस्यचित् क्वचित्।
कदाचिच्चेति पर्यायात् स्याद्वादः सप्तभङ्गभृत्॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) एक द्रव्य है।

(ii) वह किसी एक स्वरूप से है।

(iii) उसकी उत्पत्ति का कोई एक साधन भी है।

(iv) उसका एक अपादान भी है।

(v) उसका किसी से संबंध भी है।

(vi) उसका कोई एक अधिकरण भी है।

(vii) उसका कोई एक काल भी है।

क्रमवर्ती पर्यायों में वर्तमान पर्याय निश्चित होता है, किन्तु आने वाले पर्याय की संभावना और अनिश्चितता के लिए कोई नियम नहीं बनाया जा सकता—अमुक पर्याय के बाद अमुक पर्याय ही होगा, ऐसी निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। इस संदर्भ में हाइजनबर्ग के अनिश्चितता के सिद्धान्त (Principle of uncertainty) का मूल्यांकन किया जा सकता है।

4. स्याद्वाद के द्वारा-निकट, छोटा-बड़ा आदि आपेक्षिक पर्यायों की ही व्याख्या नहीं की जाती, किन्तु द्रव्य के स्वाभाविक पर्यायों की भी उससे व्याख्या की जा सकती है। नित्यता और अनित्यता स्वाभाविक पर्याय हैं। स्वभाव में विरोध की प्रतीति होती है। स्वभाव में विरोध नहीं होता, इसलिए सापेक्षता के द्वारा इनके विरोध का परिहार किया जाता है।

5. स्याद्वाद के संदर्भ में वैज्ञानिक सापेक्षवाद का अध्ययन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

कुछ सांख्यिकी विशेषज्ञों ने स्याद्वाद की सप्तभंगी को सांख्यिकी (Statistics) सिद्धान्त के आधार रूप में प्रस्तुत किया है। इस विषय में प्रो० P.C. Mahalanobis का लेख बहुत मननीय है। उसका कुछ अंश इस प्रकार है:

I should now like to make some brief observations of my own on the connexion between Indian-Jaina views and the foundations of statistical theory. I have already pointed out that the fourth category of *syādvāda*, namely, avaktavya or the "indeterminate" is a synthesis of three earlier categories of (i) assertion ("it is"), (2) negation ("it is not"), and (3) assertion and negation in succession. The fourth category of *syādvāda*,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

therefore, seems to me to be in essence the qualitative (but not quantitative) aspect of the modern concept of probability. Used in a purely qualitative sense, the fourth category of predication in Jaina logic corresponds precisely to the meaning of probability which covers the possibility of (a) something existing, (b) something not-existing, and (c) Sometimes existing and sometimes not-existing. The difference between Jaina "avaktavya" and "probability" lies in the fact that the latter (that is, the concept of probability) has definite quantitative implications namely, the recognition of numerical frequencies of occurrence of (1) "it is", or (2) "it is not", and hence in the recognition of relative numerical frequencies of the first two categories (of "it is" and "it is not") in a synthetic form. It is the explicit recognition of (and emphasis on) the concept of numerical frequency ratios which distinguishes modern statistical theory from the Jaina theory of *syādvāda*. At the same time it is of interest to note that 1500 or 2500 years ago *syādvāda* seems to have given the logical background of statistical theory in a qualitative form.

Secondly, I should like to draw attention to the Jaina view that "a real is a particular which possesses a generic attribute." This is very close to the concept of an individual in relation to the population to which it belongs. The Jaina view in fact denies the possibility of making any predication about a single and unique individual which would be also true in modern statistical theory.

The third point to be noted is the emphasis given in Jaina philosophy on the relatedness of things and on the multiform aspects of reals which appear to be similar (again in a purely qualitative sense) to the basic ideas underlying the concepts of association, correlation and concomitant variation in modern statistics.

The Jaina views of "existence, persistence, and cessation" as the fundamental characteristics of all that is real necessarily leads to a view of reality as something relatively permanent and relatively changing which has a favour of statistical reasoning.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"A real changes every moment and at the same time continues" is a view which is somewhat sympathetic to the underlying idea of stochastic processes.

Fifthly, a most important feature of Jaina logic is its insistence on the impossiblity of absolutely certain predication. In *syādvāda* the qualification "*syāt*" that it. "may be or perhaps" must be attached to every predication without any exception. All predication, according to *syādvāda*, thus has a margin of uncertainty which is somewhat similar to the concept of "uncertain inference" in modern statistical theory. The Jaina view, however, is essentially qualitative in this matter (while the great characteristic of modern statistical theory is its insistence of the possibility and significance of determining the margin of uncertainty in a meaningful way. The rejection of absolutely certain predication naturally leads Jaina philosophy continually to emphasize the inadequacy of "pure" or "formal" logic, and hence to stress the need of making inferences on the basis of data supplied by experience.

I should also like to point out that the Jaina view of causality as " a relation of determination" bases on the observation of "concomitance in agreement and in difference" has dual reference to an internal condition "in the developed state of our mind" which would seem to correspond to the state of organised knowledge in any given context and also to an external condition based on "the repeated observation of the sequence of the two events" which is suggestive of a statistical approach.

Finally, I should draw attention to the realist and pluralist views of Jaina philosophy and the continuing emphasis on the multiform and infinitely diversified aspects of reality which amounts to the acceptance of an "open" view of the universe with scope for unending change and discovery. For reasons explained above it seems to me that the ancient Indian Jaina philosophy has certain interesting resemblances to the probabilistic and statistical view of

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

reality in modern times.[1]

1. 'स्यात्' का अर्थ अपेक्षा कसे ? क्या यह विधिलिङ्ग का प्रयोग नहीं हैं ?

'अस्तिवीरा वसुन्धरा' में 'अस्ति' जैसे निपात् है, वैसे ही स्याद्वाद में 'स्यात्' शब्द निपात है। यह विधिलिंग का प्रयोग नहीं है। यह अनेक अर्थों का द्योतक है। उनमें एक अर्थ अपेक्षा भी है।

2. चेतन भी अनन्तधर्मा और अचेतन भी अनन्तधर्मा फिर दोनों में अन्तर क्या है ? 'सर्वं सर्वात्मकं' तो हो ही गया।

धर्म दो प्रकार के होते हैं—सामान्य और विशेष। विशेष धर्म के द्वारा द्रव्य का स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित होता है। चैतन्य एक विशेष धर्म है। वह चेतन में ही है, अचेतन में नहीं। चैतन्य की अपेक्षा से चेतन और अचेतन में अत्यन्ततताभाव है। इसलिए चेतन अचेतन से और अचेतन चेतन से स्वतंत्र द्रव्य है। जो द्रव्य है वह अनन्तधर्मा है, फिर भी अपनी असाधारणता के कारण उसमें 'सर्वं सर्वात्मकं' के दोष का प्रसंग नहीं है।

चेतन में चैतन्य की सत्ता स्वाभाविक है—पर-निरपेक्ष है। पुद्गल (अचेतन) में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—ये स्वाभाविक गुण हैं—पर-निरपेक्ष हैं। चेतन और पुद्गल के संयोग से होने वाले जितने धर्म या व्यंजन-पर्याय हैं, वे सब पर-सापेक्ष हैं। पर- निरपेक्ष और पर-सापेक्ष—ये दोनों पर्याय संयुक्त होकर द्रव्य को अनन्तधर्मा बनाते हैं।

3. नैयायिक आदि भी अवच्छेदक धर्म के द्वारा वस्तु के स्वरूप निश्चित करते हैं और स्याद्वाद की प्रक्रिया में भी विशेष धर्म के द्वारा वस्तु के स्वरूप का निश्चय किया जता है। तो फिर दोनों में अन्तर क्या है ? दोनों में निरपेक्षता सिद्ध होती है। स्याद्वाद में सापेक्षता होनी चाहिए।

'स्यात् अस्त्येव जीवः' चैतन्य धर्म की अपेक्षा से जीव है। इस वाक्य में चैतन्य का अस्तित्व प्रदर्शित है, वही जीव का स्वरूप नहीं है, किन्तु नास्तित्व भी उसका स्वरूप है। प्रश्न हो सकता है कि यदि पराश्रित नास्तित्व जीव का स्वरूप हो तो अजीव में जो रूप आदि हैं उसे भी जीव का स्वरूप मानना होगा। इसका उत्तर स्पष्ट है। अस्तित्व और नास्तित्व—दोनों वस्तु के स्वरूप हैं, यह प्रमाण सिद्ध

---

1. पी० सी० महलनोबिस का पूरा लेख—The Foundations of Statistics डाइलेक्टिका, भाग 8, नं. 2, 15 जून 1954—स्वीट्जरलैन्ड में प्रकाशित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। धूम और अग्नि एक अधिकरण में रहते हैं। अस्तित्व नास्तित्व का अविनाभावी है—यह सिद्ध करना ही स्याद्वाद का अपेक्षावाद है।

स्याद्वाद द्रव्य के स्वरूप का निर्माण नहीं करता। उसका स्वरूप स्वभाव से है। वह क्यों है, इसकी कोई व्याख्या नहीं की जा सकती। जो स्वरूप है उसकी व्याख्या करना स्याद्वाद का काम है। जैन दर्शन ने पांच विशिष्ट गुण मान्य किए हैं। उनके आधार पर पांच द्रव्यों की स्वीकृति है—

गुण		द्रव्य
1. गति	—	धर्मास्तिकाय
2. स्थिति	—	अधर्मास्तिकाय
3. अवकाश	—	आकाशास्तिकाय
4. वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श	—	पुद्गलास्तिकाय
5. चैतन्य	—	जीवास्तिकाय

इन पांच गुणों के अतिरिक्त शेष सब गुण सामान्य हैं। सामान्य और विशेष गुणों की व्याख्या स्याद्वाद की पद्धति से की जाती है।

4. आपने कहा कि द्रव्य के प्रत्येक धर्म में सप्तभंगी की योजना की जा सकती है। क्या अनेकान्त में भी सप्तभंगी की योजना की जा सकती है? यदि की जा सकती है तो उसका निषेधात्मक भंग एकान्त भी होगा। इस प्रकार अनेकान्त की व्यवस्था सार्वत्रिक नहीं हो सकती।

आचार्य समन्तभद्र ने अनेकान्त की व्याख्या अनेकान्तदृष्टि से की है। अखंड वस्तु के बोध और प्रतिपादन के लिए जहां स्याद्वाद प्रमाण का उपयोग किया जाता है वहां अनेकान्त अपेक्षित है। और उसके एक धर्म के बोध और प्रतिपादन के लिए नय का उपयोग किया जाता है वहां एकान्त भी अपेक्षित है। अनेकान्तवादी को अनेकान्त और एकान्त दोनों मान्य हैं। इसलिए अनेकान्त की सप्तभंगी हो सकती है—

1. स्यात् एकान्तः—कथंचित् एकान्त है;

2. स्यात् अनेकान्तः—कथंचित् अनेकान्त है।

3. स्यात् उभयः—कथंचित् दोनों है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4. स्यात् अवक्तव्यः—कथंचित् अवक्तव्य है।

5. स्यात् एकान्तश्च अवक्तव्यश्च—कथंचित् एकान्त है और अवक्तव्य है।

6. स्यात् अनेकान्तश्च अवक्तव्यश्च—कथंचित् अनेकान्त है और अवक्तव्य है।

7. स्यात् एकान्तश्च अनेकान्तश्च अवक्तव्यश्च—कथंचित् एकान्त है, अनेकांत है और अव्यक्त है।

हमारा एकान्त से विरोध नहीं है। उस एकान्त को हम अस्वीकार करते हैं जो मिथ्या है—दूसरे नय के मत का खंडन करता है। इस आधार पर एकान्त के दो भेद होते हैं—सम्यग् एकान्त और मिथ्या एकान्त। सम्यग् एकान्त नय है और मिथ्या एकान्त दुर्नय। अनेकान्त से हमारा कोई गठबन्धन नहीं है। हम उस अनेकान्त को भी स्वीकार नहीं करते जो एक वस्तु में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विरुद्ध अनेक धर्मों की कल्पना करता है इस आधार पर अनेकान्त के भी दो भेद होते हैं—सम्यग् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। सम्यग् अनेकांत प्रमाण है और मिथ्या अनेकान्त प्रमाणाभास है।[1]

सम्यग् अनेकान्त सार्वत्रिक होता है। आचार्य अकलंक ने जीव द्रव्य में भी सप्तभंगी की योजना की है—

स्यात् जीवः—कथंचित् जीव है।

स्यात् अजीवः—कथचित् जीव नहीं है।

चैतन्य-व्यापार की दृष्टि से जीव चेतनात्मक है। प्रमेयत्व आदि धर्मों की अपेक्षा से जीव चेतनात्मक नहीं है। इस प्रकार प्रमाण से अविरुद्ध जितने भी धर्म हैं,

---

1. तत्त्वार्थवार्तिक 116 :

अनेकान्तोऽपि द्विविधः—सम्यगनेकान्तो मिथ्यानेकान्त इति। तत्र सम्यगेकान्तो हेतुविशेषसामर्थ्यापेक्षः प्रमाणः प्ररूपितार्थैकदेशादेशः। एकात्मावधारणेन अन्याशेषनिराकरणप्रवणप्रणिधिर्मिथ्यैकान्तः। एकत्र सप्रतिपक्षानेकधर्मस्वरूपनिरूपणो युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धः सम्यगनेकान्तः। तदतत्स्वभाववस्तुशून्यं परिकल्पितानेकात्माकं केवलं वाग्विज्ञानं मिथ्याऽनेकान्तः तत्र सम्यगेकान्तो नय इत्युच्यते। सम्यगनेकान्तः प्रमाणं। नयार्पणादेकान्तो भवति एकनिश्चयप्रवणत्वात्, प्रमाणार्पणादनेकान्तो भवति अनेक निश्चयाधिकरणत्वात्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे सब अनेकान्त के विषय बनते हैं।[1]

5. क्या सापेक्ष की भी सप्तभंगी हो सकती है ? यदि हो सकती है तो निरपेक्ष सत्य की स्वीकृति सहज ही हो जाती है।

वस्तु कथंचित् सापेक्ष है और वह कथंचित् निरपेक्ष है। ये दोनों भंग मान्य हो सकते हैं। अर्थ-पर्याय या स्वाभाविक पर्याय की दृष्टि से वस्तु निरपेक्ष होती है। अर्थ-पर्याय की दृष्टि से आकाश आकाश है। आपेक्षिक और वैभाविक पर्यायों की दृष्टि से वस्तु सापेक्ष होती है। सापेक्ष दृष्टि से आकाश, घटाकाश, पटाकाश आदि अनेक रूपों में प्राप्त होता है। जितने व्यंजन-पर्याय हैं वे सब सापेक्ष ही होते हैं। इस विश्व-व्यवस्था में कोई एक तत्त्व ऐसा नहीं है जिसे हम निरपेक्ष कह सकें। किन्तु प्रत्येक द्रव्य निरपेक्ष और सापेक्ष की समन्विति है। निरपेक्षता और सापेक्षता को सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता। उनका पार्थक्य भी अपेक्षा से ही होता है—अर्थ-पर्याय की दृष्टि से निरपेक्षता और व्यंजन-पर्याय की दृष्टि से सापेक्षता है।

---

1. सप्तभंगीतरंगिणी, पृष्ठ 79 :

एवमयं स्याज्जीव इति मूलभंगद्वयम्। तत्रोपयोगात्मना जीवः, प्रमेयत्वाद्यात्मनाऽजीव इति तदर्थः। तदुक्तं भट्टाकलंकदेवैः —

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाऽचेतनात्मकः॥ इति॥

अजीवत्वं च प्रकृतेऽजीववृत्तिप्रमेयत्वादि धर्मवत्त्वम्, जीवत्वं च ज्ञानदर्शनादिमत्त्वमिति द्रष्टव्यम्।

जैन न्याय का विकास—ले० मुनि नथमल, प्रकाशक—जैन विद्या अनुशीलन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर पृ० 73-80 से साभार उद्धृत।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुणी मणगो

सं. मुनि दुलहराज

सुधम्मसामि-जंबुणामप्पभवाण य। पभवस्स कयाइ चिंता जाया-को अव्वोच्छित्तिसमत्थो गणहरो होज्जा ? सगणे कओवओगो अपेच्छमाणो संघे य घरत्थेसु उवओगो कतो। उवउत्तो पासति रायगिहे सेज्जंभवं बंभणं जण्णे दिक्खियं, 'एसेवऽत्थु' त्ति अवधारए।

रायगिहं गंतुं संघाडगं वावारेति-'अज्जो ! जण्णवाडं भिक्खट्ठाए गंतुं धम्मलाभेह, तत्थ तुब्भे अतिच्छा-विज्जिहिह ताहे भणेज्जह 'अहो! तत्तं न ज्ञायते।'

तेण सेज्जंभवेण दारमूलट्ठिएणं सोउं चिंतियं-एते उवसंता तवस्सि-णोअसंतं न वयंतीति। अज्झावगमुवगंतुं भणति-'किं तत्त्वम् ?'

सो भणति—'वेदास्तत्त्वम्।'

तेण असिं कड्ढिऊण भणियं-'कहय, सीसं ते छिंदामि जति ण कहेसि।'

उवज्झाएण भणियं—'एयं परं सीसच्छेदे कहेतव्वं' ति एस पुण्णो समयो तं कधेमि-आरुहंतो धम्मो तत्त्वम्, जेण एयस्स जूवस्स हेट्ठा रयण-मयी अरहंतपडिमा वेदमंतेहिं धुव्वति।

ताहे सो उवज्झायस्स पाएसु पडिउं जन्नो-वक्खिवं च से दातुं निग्गतो ते साधुणो गवेसंतो (गओ) आयरियसगासं। गुरवो साधू य वंदित्ता भणति-'को धम्मो?'

आयरिया उवयुत्ता-'इमो सो'त्तिणातो। साहुधम्मे कहिते पव्वतितो, अणुक्कमेण चोद्दसपुव्वी जातो।

जदा पव्वइतो तदा से भज्जा गब्भिणी, तं दट्ठुं लोगो सयणो य परितप्पति-तरुणी अपुत्ता य। किंचि वा ते पोट्टे ?-त्ति पुच्छंति।

सा भणति-'मणागं लक्खेमि।'

समते दारतो जातो। गते बारसाहे सयणेण नामं कतं—जम्हा पुच्छित्ते ते 'मणागं' ति भणियं तम्हा मणगो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अट्ठवरिसितो जातो मायरिं भणति—'को मम पिता?'

सा भणति—'सेयपडतो पव्वइतो।'

सो णासित्ता पिउपासं पट्ठितो। तदा आयरिया चंपाए विहरंति। सो चंपं गतो। गुरुहिं सण्णाभूमिं निग्गतेहिं दिट्ठो। वंदिता य तेणं। दिट्ठे गुरुण सिणेहो जातो, तस्स वि दारगस्स। आभट्ठो गुरुहिं—'भो दारग! कतो आगम्मति?'

सो भणति—'रायगिहाओ।'

'तत्थ तुमं कस्स पुत्तो णत्तुओ वा?'

भणति—'सेज्जंभवो बंभणो तस्स अहं पुत्तो, सो पव्वतितो।'

तेहिं भणियं—'तुमं किं आगतो?'

भणति—'पव्वइस्सं तं ता तुब्भे जाणह?'

ते भणंति—'जाणामो।'

आह—'सो कहिं?'

ते भणंति—'सो मम मित्तो सरीरभूतो, पव्वयाहि मम मूले, तं पि पेक्खिहिसि।'

तेण भणियं—'एवं होउ।'

पव्वाविंतो य। आयरिया आगंतुं पडिस्सए इरियापडिक्कंता आलोएंति—सच्चितो पडुपण्णो अज्जेसो पव्वाविंतो। गुरवो उवउत्ता—'एयस्स किं आउं?'

णायं—'छम्मासा'। अद्धितीकया चिंतेंति—'इमस्स थोवं आउं, आयाराती गंथा समुद्दभूया आयतजोगा य, एस तवस्सी अणायसिद्धं-तपरमत्थो कालं करेहिति, किं कायव्वं?'

चिंतियं च णेहिं—'चरिमो चोद्दसपुव्वी अवस्सं निज्जूहति, दसपुव्वी वि कारणे, मम वि इमं कारणं—एयस्स अणुग्गहो तो निज्जूहामि। तहेव आढत्ता निज्जूहिउं। ते वि दस वि अज्झयणा निज्जूहिज्जंता विकाले निज्जूढा थेवावसेसे दिवसे तेण दस (वे) कालियं ति।'

(दशवैकालिक चूर्णि से)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि मनक

अनु. मुनि दुलहराज

भगवान् महावीर के पांचवें गणधर सुधर्मा थे। उनके बाद जम्बूस्वामी हुए। उनके बाद प्रभव गणधर बने। एक दिन प्रभव के मन में यह विचार आया—'(मेरे पश्चात्) परम्परा को अव्यवच्छिन्न रखने में समर्थ गणधर कौन होगा?' उन्होंने अपने गण की ओर दृष्टि डाली। कोई उपयुक्त नहीं लगा तब समूचे संघ को, फिर गृहस्थ-वर्ग को ध्यान से देखा। उनकी दृष्टि यज्ञ में दीक्षित राजगृह निवासी शय्यंभव ब्राह्मण पर जा टिकी। उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि यही गणधर होने योग्य है।

आचार्य प्रभव राजगृह आए और साधुओं के संघाटक को बुलाकर कहा—'आर्यो! भिक्षा के लिए यज्ञवाट में जाकर 'धर्म-लाभ' कहो! वहां तुम्हारा अतिक्रमण किया जायेगा, तुम्हें बाहर निकल जाने के लिए कहा जायेगा, तब तुम कहना—आश्चर्य है कि तत्त्व नहीं जाना जा रहा है।'

आचार्य के आदेशानुसार संघाटक मुनि वहां गए और वैसे ही कहा। यज्ञवाट के द्वार के पास बैठे शय्यंभव ने यह सुनकर सोचा—'ये उपशान्त और तपस्वी मुनि असत्य नहीं बोलते।' वे अध्यापक के पास आकर बोले—'तत्त्व क्या है?'

अध्यापक ने कहा—'वेद तत्त्व हैं?'

तब शय्यंभव ने तलवार निकालते हुए कहा—'बोलो, यदि तुम नहीं बताओगे तो तुम्हारा सिर काट लूंगा।'

अध्यापक ने सोचा—'शिरच्छेद का अवसर उत्पन्न होने पर इस परम तत्त्व को बता देना चाहिए। वह समय (अवसर) आ चुका है। शय्यंभव को उन्होंने कहा—'आर्हत् धर्म तत्त्व है। इसीलिये इस यूपस्तम्भ के नीचे स्थित अर्हत् की रत्नमयी प्रतिमा की वेदमंत्रों द्वारा स्तुति की जाती है।'

तब शय्यंभव अध्यापक के चरणों में गिर पड़े। यज्ञवाट की समूची सामग्री उन्हें देकर वे उन मुनियों की खोज में निकल गए। खोजते-खोजते वे आचार्य प्रभव के पास पहुंचे। आचार्य और साधुओं को वन्दना कर बोले—'धर्म क्या है?'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य ने ध्यान देकर जान लिया कि यह वही (शय्यंभव) है। उन्होंने शय्यंभव को मुनि-धर्म का उपदेश दिया। वे प्रव्रजित हुए। उन्होंने चौदह पूर्वों का ज्ञान अर्जित किया।

जब शय्यंभव प्रव्रजित हुए थे तब उनकी स्त्री गर्भवती थी। यह देखकर दूसरे लोग और स्वजन कहते—'यह तरुणी है। इसके कोई सन्तान नहीं है।' वे उसे पूछते—'क्या तुम गर्भवती हो ?'

वह कहती—'मनाक् (कुछ) आभास होता है।'

यथा समय उसने एक पुत्र को जन्म दिया। बारह दिन बीतने पर स्वजन-वर्ग ने उसका नाम संस्कार किया। गर्भावस्था में लोगों के पूछने पर वह कहती—'मनाक् (कुछ) आभास होता है', इसलिये उसका नाम 'मनक' रखा।

मनक आठ वर्ष का हुआ। एक बार उसने माता से पूछा—'मेरे पिता कौन हैं ?'

उसने कहा—'तेरे पिता श्वेत वस्त्रधारी मुनि बन गये हैं।'

वह वहां से चला और पिता के पास जाने के लिए प्रस्थान कर गया। उस समय आचार्य (शय्यंभव) चम्पा नगरी में विहार कर रहे थे। वह वहां पहुंचा। आचार्य शौच के लिए बाहर जा रहे थे। उन्होंने उस बालक को देखा। उसने वन्दना की। उसे देखते ही गुरु के मन में स्नेह उमड़ आया। बालक का मन भी स्नेह से भर गया। गुरु ने पूछा—'बच्चे ! कहां से आए हो ?'

उसने कहा—'राजगृह से।'

आचार्य ने पूछा—'वहां तुम किसके पुत्र या धेवते हो ?'

उसने कहा—'मैं शय्यंभव ब्राह्मण का पुत्र हूं। वे प्रव्रजित हो गए हैं।'

आचार्य ने कहा—'तुम क्यों आए हो ?'

मनक—'मैं भी दीक्षित होऊंगा। क्या आप उन्हें जानते हैं ?'

आचार्य—'जानता हूं।'

मनक—'वे कहां हैं ?'

आचार्य—'वे मेरे आत्मभूत मित्र हैं। तुम मेरे पास दीक्षा ले लो। उन्हें भी तुम देख लोगे।'

मनक—'अच्छा, ऐसा ही हो।'

आचार्य ने मनक को दीक्षित कर लिया। स्थान पर आकर ईर्या प्रतिक्रमण करते हुए आलोचना की कि आज मुझे सचित्र वस्तु प्राप्त हुई है। मैंने इसे प्रव्रजित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया है। उन्होंने एकाग्रमन होकर ध्यान किया—इस बालक का आयुष्य कितना है ? उन्होंने जाना कि इसका आयुष्य छह मास मात्र है। उनका मन अधीर हो गया। उन्होंने सोचा—'इसका आयुष्य अत्यल्प है। आचार आदि आगम-ग्रन्थ समुद्र-भूत—समुद्र के समान गहरे और विशाल तथा आयतयोगविस्तृत अनुष्ठान सापेक्ष हैं। यह तपस्वी (बालक) सिद्धान्त के परमार्थ को जाने बिना ही काल कर जायेगा। मुझे क्या करना चाहिये ?'

उन्होंने आगे सोचा—'अंतिम चतुर्दश पूर्वधर मुनि अवश्य ही 'निर्यूहण' (पूर्व-शास्त्र ग्रन्थों का उद्धरण) करते हैं। दशपूर्वी मुनि प्रयोजन उपस्थित होने पर निर्यूहण करते हैं। मेरे सामने भी प्रयोजन उपस्थित हुआ है। वह है—बालक पर अनुग्रह। इसलिये मुझे निर्यूहण करना चाहिये।' (यह सोचकर) वे निर्यूहण करने लगे। दस अध्ययनों का निर्यूहण कार्य विकाल वेला में, जब दिन थोड़ा शेष था तब पूरा हुआ। इसलिए इस ग्रन्थ का नाम 'दश (वै) कालिक रखा गया।

●

अप्पा चेव दमेयव्वो।
अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ
अस्सि लोए परत्थ य॥ —उत्तराध्ययन, 1.15

आत्मा का ही दमन करना चाहिए। आत्मा ही दुर्दम है। दमित-आत्मा ही इहलोक और परलोक में सुखी होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगम-अनुसंधान

मंगलवाद : नमस्कार महामंत्र के पाठ-भेद

मुनि नथमल

उपोद्घात

कुछ लोग परम्परावादी होते हैं। वे परम्परा से प्राप्त अपने शास्त्रों को शाश्वत मानते चले जाते हैं। उन्हें उन शास्त्रों के पाठ और अर्थ में किसी अनुसंधान की अपेक्षा अनुभूत नहीं होती। किन्तु अनुसंधित्सु वर्ग इस बात को स्वीकार नहीं करता। वह शास्त्र के पाठ और अर्थ—दोनों का अनुसंधान करता है। जो कुछ नया उपलब्ध होता है, उसे विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत भी करता है।

हमने आचार्यश्री तुलसी के वाचना-प्रमुखत्व में जैन-आगमों के अनुसंधान का कार्य प्रारंभ किया। एक ओर हम पाठ का अनुसंधान कर रहे हैं तो दूसरी ओर अर्थ के अनुसंधान का कार्य भी चलता है। आगमों के सूत्र पाठ की अनेक वाचनाएँ हैं और पन्द्रह सौ वर्ष की इस लम्बी अवधि में, अनेक कारणों से उनके अनेक पाठ-भेद हो गए हैं। अर्थभेद उनसे भी अधिक मिलता है। अनुसंधान का उद्देश्य है मूल पाठ और मूल अर्थ की खोज। अनेक प्रकार के पाठों और अर्थों में से मूल पाठ और अर्थ को खोज निकालना कोई सरल कार्य नहीं है। फिर भी मनुष्य प्रयत्न करता है और कठिन कार्य को सरल बनाने की उसमें भावना सन्निहित होती है। हमारा प्रयत्न और हमारी भावना मूल के अनुसंधान की दृष्टि से प्रेरित है। इसीलिए इस कार्य के प्रति हमारा दृष्टिकोण सत्य के प्रति समर्पित है, किसी सम्प्रदाय या किसी विशेष विचार के प्रति समर्पित नहीं है।

मंगलवाद

दार्शनिक युग में शास्त्र के प्रारंभ में मंगल, अभिधेय, संबंध और प्रयोजन—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये चार अनुबन्ध बतलाए जाते थे। आगम युग में इन चारों की परम्परा प्रचलित नहीं थी। आगमकार अपने अभिधेय के साथ ही अपने आगम का प्रारंभ करते थे। आगम स्वयं मंगल हैं। उनके लिए फिर मंगल-वाक्य आवश्यक नहीं होता। जय-धवला में लिखा है कि आगम में मंगल-वाक्य का नियम नहीं है, क्योंकि परम आगम में चित्त को केन्द्रित करने से नियमतः मंगल का फल उपलब्ध हो जाता है।[1] इस विशेष अर्थ को ज्ञापित करने के लिए भट्टारक गुणधर ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगल नहीं किया।[2]

आचारांग सूत्र के प्रारंभ में मंगल-वाक्य उपलब्ध नहीं है। उसका प्रारम्भ—'सुयं मे आउसं ! तेण भगवया एवमक्खायं'—इस वाक्य से होता है।

सूत्रकृतांग सूत्र का प्रारंभ 'बुज्झेज्झ तिउट्टेज्जा'—इस उपदेश-वाक्य से होता है।

स्थानांग और समवायांग सूत्र के आदि-वाक्य 'सुयं मे आउसं ! तेण भगवता एवमक्खातं' हैं।

भगवती सूत्र के प्रारम्भ में तीन मंगल-वाक्य मिलते हैं—

1. नमो अरहंताणं,
   नमो सिद्धाणं,
   नमो आयरियाणं,
   नमो उवज्झायाणं,
   नमो सव्वसाहूणं
2. नमो बंभीए लिवीए।
3. नमो सुयस्स।

ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा—इन सब सूत्रों का प्रारम्भ 'तेण कालेणं तेण समएणं'—से होता है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र का आदि वाक्य है—'जम्बू'।

विपाकसूत्र का आदि-वाक्य वही 'तेणं कालेणं तेणं समएणं'— है।

जैन आगमों में द्वादशांगी स्वतः प्रमाण है। यह गणधरों द्वारा रचित मानी जाती है। इसका बारहवां अंग उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध ग्यारह अंगों में, केवल

---

1. कसाय पाहुड़, भाग 1, गाथा 1, पृष्ठ 9 : एत्थ पुण णियमो णत्थि, पर-मागमुवजोगम्मि णियमेण मंगलफलोवलंभादो।
2. वही, पृष्ठ 9 : एदस्स अत्थविसेस्स जाणावणट्ठं गुणहरभडारएण गंथस्सा-दीए ण मंगलं कयं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवती सूत्र के प्रारंभ में मंगल-वाक्य है, अन्य किसी अंग-सूत्र का प्रारम्भ मंगल-वाक्य से नहीं हुआ है। सहज ही प्रश्न होता है कि उपलब्ध ग्यारह अंगों में से केवल एक ही अंग में मंगल-वाक्य का विन्यास क्यों ? कालांतर में मंगल-वाक्य के प्रक्षिप्त होने की अधिक संभावना है। जब यह धारणा रूढ़ हो गई कि आदि, मध्य और अन्त में मंगल-वाक्य होना चाहिए तब ये मंगल-वाक्य लिखे गए।[1]

भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक के प्रारंभ में भी मंगल-वाक्य उपलब्ध होता है—'नमो सुयदेवयाए भगवईए'। अभयदेव सूरी ने इसकी व्याख्या नहीं की है। इससे लगता है कि प्रारंभ के मंगल-वाक्य, लिपिकारों या अन्य किसी आचार्य ने, वृत्ति की रचना से पूर्व जोड़ दिए थे और मध्यवर्ती मंगल वृत्ति की रचना के बाद जुड़ा। पन्द्रहवें अध्ययन का पाठ विघ्नकारक माना जाता था इसलिए इस अध्ययन के साथ मंगलवाक्य जोड़ा गया, यह बहुत संभव है। मंगलवाक्य के प्रक्षिप्त होने की बात अन्य आगमों से भी पुष्ट होती है।[1]

दशाश्रुतस्कंध की वृत्ति में मंगलवाक्य के रूप में नमस्कार मंत्र व्याख्यात है, किन्तु चूर्णि में वह व्याख्यात नहीं है। इससे स्पष्ट है कि चूर्णि के रचनाकाल में वह प्रतियों में उपलब्ध नहीं था और वृत्ति की रचना से पूर्व वह उनमें जुड़ गया था। कल्पसूत्र (पर्यूषणाकल्प) दशाश्रुतस्कंध का आठवाँ अध्ययन है। उसके प्रारंभ में भी नमस्कार मंत्र लिखा हुआ मिलता है। आगम के महान् अनुसंधाता मुनि पुण्य विजयजी ने इसे प्रक्षिप्त माना है। उनके अनुसार प्राचीनतम ताड़पत्रीय प्रतियों में यह उपलब्ध नहीं है और वृत्ति में भी व्याख्यात नहीं है। यह अष्टम अध्ययन होने के कारण इसमें मध्य मंगल भी नहीं हो सकता। इसलिए यह प्रक्षिप्त है।[2]

प्रज्ञापना सूत्र के प्रारंभ में भी नमस्कार मन्त्र लिखा हुआ है, किन्तु हरिभद्र सूरी और मलयगिरि—इन दोनों व्याख्याकारों के द्वारा यह व्याख्यात नहीं है।

प्रज्ञापना के रचनाकार श्री श्यामार्य ने मंगल-वाक्य पूर्वक रचना का प्रारंभ

---

1. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा, 13-14
   तं मंगलमाईए मज्झे पज्जंतए य सत्थस्स।
   पढमं सत्थस्साविग्घपारगमणाए निद्दिट्ठं ॥
   तस्सेवाविग्घत्थं मज्झिमयं अंतिमं च तस्सेव।
   अव्वोच्छित्तिनिमित्तं सिस्सपसिस्साइवंसस्स ॥
2. कल्पसूत्र (मुनि पुण्य विजयजी द्वारा संपादित) पृष्ठ 3 :
   कल्पसूत्रारम्भे नैतद् नमस्कारसूत्ररूप सूत्रं भूम्ना प्राचीनतमेषु ताड़पत्रीयादर्शेषु दृश्यते, नापि टीकाकृदादिभिरेतदादृतं व्याख्यातं वा, तथा चास्य कल्पसूत्रस्य दशाश्रुतस्कंधसूत्रस्याष्टमाध्ययनत्वान्न मध्ये मंगलरूपत्वेनापि एतत्सूत्रं संगतमिति प्रक्षिप्तमेवैतत् सूत्रमिति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया है।[1] इससे ज्ञात होता है कि ई. पू. पहली शताब्दी के आसपास आगम-रचना से पूर्व मंगल वाक्य लिखने की पद्धति प्रचलित हो गई। प्रज्ञापनाकार का मंगल-वाक्य उनके द्वारा रचित हैं। इसे निबद्ध-मंगल कहा जाता है। दूसरों के द्वारा रचे हुए मंगल-वाक्य उद्धृत करने को 'अनिबद्ध-मंगल' कहा जाता है।[2] प्रति लेखकों ने अपने प्रति-लेखन में कहीं-कहीं अनिबद्ध-मंगल का प्रयोग किया है। इसीलिए मंगल-वाक्य लिखने की परंपरा का सही समय खोज निकालना कुछ जटिल हो गया।

नमस्कार-महामन्त्र के पाठ-भेद

नमस्कार मंत्र का बहु प्रचलित पाठ यह है—णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।

प्राचीन ग्रन्थों में इसके अनेक पदों एवं वाक्यों के पाठान्तर मिलते हैं—

- णमो—नमो
- अरहंताणं—अरिहंताणं, अरुहंताणं।
- आयरियाणं—आइरियाणं।
- णमो लोए सव्वसाहूणं—णमो सव्व साहूणं।
- नमो अरहंतानं, नमो सव-सिधानं।
- **णमो, नमो**—प्राकृत में आदि में 'न' का 'ण' विकल्प से होता है इस-लिए 'नमो', 'णमो'—ये दोनों रूप मिलते हैं।
- **अरहंताणं, अरिहंताणं**—प्राकृत में 'अर्ह' धातु के दो रूप बनते हैं—अरहइ, अरिहइ। 'अरहंताणं' और 'अरिहंताणं' ये दोनों 'अर्ह' धातु के शतृ प्रत्ययान्त रूप हैं। 'अरहंत' और 'अरिहंत'—इन दोनों में कोई अर्थ भेद नहीं है। व्याख्याकारों ने 'अरिहंत' शब्द को संस्कृत की दृष्टि से देखकर उसमें अर्थभेद किया है। अरि + हंत—शत्रु का हनन करने वाला। यह अर्थ शब्द-साम्य के कारण किया गया है। आवश्यक निर्युक्ति में यह अर्थ उपलब्ध है।[3] अर्हता का अर्थ इसके बाद किया गया

1. प्रज्ञापना, पद 1, गाथा 1 :
   ववगयजरमरणभए, सिद्धे अभिवंदिऊण तिविहेणं।
   वंदामि जिणवरिंदं, तेलोक्कगुरुं महावीरं॥
2. धवला, षट्खंडागम 1-1-1 पृष्ठ 42 :
   तं च मंगलं दुविहं णिबद्धमणिबद्धमिदि। तत्थ णिबद्धं णाम, जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवदाणमोक्कारो तं णिबद्धमंगलं। जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण ण णिबद्धो देवदाणमोक्कारो, तमणिबद्धमंगलं।
3. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 919, 920 :
   इंदियविसयकसाये परीसहे वेयणाओ उवसग्गे।
   एए अरिणो हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति॥
   अट्ठविहं वि अ कम्मं, अरिभूअं होइ सव्वजीवाणं।
   तं कम्ममरिहंता, अरिहंता तेण वुच्चंति॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इस अर्थभेद के होने पर 'अरहंत' और 'अरिहंत' ये दोनों एक ही धातु के दो रूपों में निष्पन्न दो शब्द नहीं होते किन्तु भिन्न-भिन्न अर्थ वाले दो शब्द बन जाते हैं।

आवश्यक सूत्र के निर्युक्तिकार ने अरिहंत, अरहंत के तीन अर्थ किए हैं—

1. पूजा की अर्हता होने के कारण अरहंत।[1]
2. अरि का हनन करने के कारण अरिहंत।[2]
3. रज-कर्म का हनन करने के कारण अरिहंत।[3]

वीरसेनाचार्य ने 'अरिहंताणं' पद के चार अर्थ किए हैं—

1. अरि का हनन करने के कारण अरिहंत।
2. रज का हनन करने के कारण अरिहंत।
3. रहस्य के अभाव से अरिहंत।
4. अतिशय पूजा की अर्हता होने के कारण अरिहंत।[4]

प्रथम तीन अर्थ अरि+हन्ता—इन दो पदों के आधार पर किए गए है और चौथा अर्थ अर्ह् धातु के 'अरहंता' पद के आधार पर किया गया है।

भाषा की दृष्टि से 'नमो' और 'णमो' तथा 'अरहंताणं' तथा 'अरिहंताणं'—इन दो में मात्र रूपभेद है, किन्तु मन्त्रशास्त्रीय दृष्टि से 'न' और 'ण' के उच्चारण की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया होती है। 'ण' मूर्धन्य वर्ण है। उसके उच्चारण से जो घर्षण होता है, जो मस्तिष्कीय प्राण-विद्युत् का संचार होता है, वह 'न' के उच्चारण से नहीं होता।

अरहंताणं के अकार और अरिहंताणं के इकार का भी मंत्रशास्त्रीय अर्थ एक नहीं है। मंत्रशास्त्र के अनुसार अकार का वर्ण स्वर्णिम और स्वाद नमकीन होता है तथा इकार का वर्ण स्वर्णिम और स्वाद कषैला होता है।

अकार पुल्लिग और इकार नपुंसकलिंग होता है।

---

1. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 921 :
   अरिहंति वंदणनमंसणाणि अरिहंति पूअसक्कारे।
   सिद्धिगमणं च अरिहा अरहंता तेण वुच्चंति॥
2. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 922 :
   देवासुरमणुएसु अरिहा पूआ सुरुत्तमा जम्हा।
   अरिणो रयं च हंता अरहंता तेण वुच्चंति॥
3. धवला, षट्खंडागम 1-1-1, पृष्ठ 43-45 :
   अरिहननादरिहन्ता।...रजोहननाद् वा अरिहन्ता।...
   रहस्याभावाद् वा अरिहन्ता।...अतिशयपूजार्हत्वात् वार्हन्त :।
4. विद्यानुशासन, योगशास्त्र पृष्ठ 90, 91

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरुहंताणं—यह पाठ-भेद भगवती सूत्र की वृत्ति में व्याख्यात है। वृत्तिकार अभयदेवसूरी ने इसका अर्थ अपुनर्भव किया है। जैसे बीज के अत्यन्त दग्ध होने पर उससे अंकुर नहीं फूटता, वैसे ही कर्म-बीज के अत्यन्त दग्ध हो जाने पर भवांकुर नहीं फूटता।[1]

आवश्यक निर्युक्ति और धवला में 'अरुहंत' पाठ व्याख्यात नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि यह पाठान्तर उनके उत्तरकाल में बना है। ऐसी अनुश्रुति भी है कि यह पाठान्तर तमिल और कन्नड़ भाषा के प्रभाव से हुआ है। किन्तु इसकी पुष्टि के लिए कोई स्पष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं है।

'अरुह' शब्द का प्रयोग आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में मिलता है। उन्होंने 'अरुहंत' और 'अरहंत' का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। वे दक्षिण के थे, इसलिए 'अरहंत' के अर्थ में 'अरुह' का प्रयोग दक्षिण के उच्चारण से प्रभावित है, इस उपपत्ति की पुष्टि होती है। बोधप्राभृत में उन्होंने 'अर्हत्' का वर्णन किया है। उसमें 28, 29, 30, 32—इन चार गाथाओं में 'अरहंत' का प्रयोग है और 31, 34, 36, 39, 41 इन पांच गाथाओं में 'अरुह' का प्रयोग है।

आचार्य हेमचन्द्र ने उपलब्ध प्रयोगों के आधार पर अर्हत् शब्द के तीन रूप सिद्ध किए हैं—अरुहो, अरहो, अरिहो, अरुहन्तो, अरहन्तो, अरिहन्तो।[2]

डॉ० पिशेल ने अरहा, अरिहा, अरुहा और अलिहन्त का विभिन्न भाषाओं की दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत किया है।[3]

अरहा, अरहन्त—अर्द्धमागधी
अरिहा —शौरसेनी
अरुहा —जैन महाराष्ट्री
अलिहंताणं —मागधी
आयरियाणं —आइरियाणं

आगम साहित्य में यकार के स्थान में इकार के प्रयोग मिलते हैं—वयगुत्त—वइगुत्त; वयर—वइर।

---

1. भगवती वृत्ति, पत्र 3 अरुहंताणमित्यपि पाठान्तरं, तत्र अरोहद्भ्यः अनुपजायमानेभ्यः क्षीणकर्मबीजत्वात्, आह च—

   'दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः
   कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः ॥

2. हेम शब्दानुशासन, 8। 2। 111 : उच्चार्हति।
3. कम्पेरेटिव ग्रामर ऑफ दी प्राकृत लेंगवेजेज, पिशेल ऽऽ 140 पृष्ठ 113

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार 'आयरिय' और 'आइरिय' में रूपभेद है।

● **णमो लोए सव्वसाहूणं—णमो सव्वसाहूणं**—अभयदेवसूरी के अनुसार भगवती सूत्र के मंगलवाक्य के रूप में उपलब्ध नमस्कार मन्त्र का पांचवां पद 'णमो सव्वसाहूणं' है। 'णमो लोए सव्वसाहूणं' का उन्होंने पाठान्तर के रूप में उल्लेख किया है—णमो लोए सव्वसाहूणं ति क्वचित्पाठः। इस पाठान्तर की व्याख्या में उहोंने बताया है कि 'सर्व' शब्द आंशिक सर्व के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। अतः परिपूर्ण सर्व का बोध कराने के लिए इस पाठान्तर में 'लोक' शब्द का प्रयोग किया गया है।[2] 'लोक' और 'सर्व'—इनदोनों शब्दों के होने पर यह प्रश्न होना स्वाभाविक ही है और अभयदेव सूरी ने इसी का समाधान किया है।

दशाश्रुतस्कंध के वृत्तिकार ब्रह्मऋषि ने भी 'णमो लोए सव्वसाहूणं।' को पाठान्तर के रूप में व्याख्यात किया है।[3] वे इसकी व्याख्या में अभयदेवसूरी का अक्षरशः अनुसरण करते हैं।

हमने अभयदेवसूरी की वृत्ति के आधार पर भगवती सूत्र में 'णमो सव्वसाहूणं' को मूलपाठ और 'णमो लोए सव्वसाहूणं' को पाठान्तर स्वीकृत किया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि 'णमो लोए सव्वसाहूणं' सर्वत्र पाठान्तर हैं। आवश्यक सूत्र में हमने 'णमो लोए सव्व साहूणं' को ही मूल पाठ माना है। हमने आगम-अनुसंधान की जो पद्धति निर्धारित की है, उसके अनुसार हम प्राचीनतम प्रति या चूर्णि, वृत्ति आदि व्याख्या में उपलब्ध पाठ को प्राथमिकता देते हैं। सबसे अधिक प्राथमिकता आगम में उपलब्ध पाठ को देते हैं। आगम के द्वारा आगम के पाठ संशोधन में सर्वाधिक प्रामाणिकता प्रतीत होती है। इस पद्धति के अनुसार हमें सर्वत्र 'णमो लोए सव्व-साहूणं' इसे मूलपाठ के रूप में स्वीकृत करना चाहिए था, किन्तु नमस्कार मन्त्र किस आगम का मूलपाठ है, इसका निर्णय अभी नहीं हो पाया है। यह जहां कहीं उपलब्ध है वहां ग्रन्थ के अवयव रूप में उपलब्ध नहीं है, मंगलवाक्य के रूप में उपलब्ध है। आवश्यक सूत्र के प्रारंभ में नमस्कार मन्त्र मिलता है। किन्तु वह आवश्यक का अंग नहीं है। आवश्यक के मूल अंग सामायिक, चतुर्विंशस्तव आदि हैं। इस दृष्टि से भगवती सूत्र में नमस्कार मंत्र का जो प्राचीनरूप इमें मिला वही हमने मूलरूप में स्वीकृत किया। अभयदेवसूरी की व्याख्या से प्राचीन या समकालीन कोई भी प्रति प्राप्त नहीं हैं। यह वृत्ति ही सबसे प्राचीन है। इसलिए वृत्तिकार द्वारा निर्दिष्ट

---

1. भगवती वृत्ति, पत्र 4.
2. भगवती वृत्ति, पत्र 4 :
   तत्र सर्वशब्दस्य देशसर्वतायामपि दर्शनादपरिशेषसर्वतोपदर्शनार्थमुच्यते 'लोके'—मनुष्यलोके न तु गच्छादौ ये सर्वसाधवस्तेभ्यो नमः।
3. हस्तलिखित वृत्ति, पत्र 4.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाठ और पाठान्तर का स्वीकार करना ही उचित प्रतीत हुआ। 'णमो सव्वसाहूणं' पाठ मौलिक है या 'णमो लोए सव्वसाहूणं' पाठ मौलिक है—इसकी चर्चा यहां अपेक्षित नहीं है। यहां इतनी ही चर्चा अपेक्षित है कि अभयदेवसूरी को भगवती सूत्र की प्रतियों में 'णमो सव्वसाहूणं' पाठ प्राप्त हुआ और क्वचित् 'णमो लोए सवयसाहूणं' पाठ मिला।

● **नमो अरहंतानं—नमो सव-सिधानं**—यह पाठान्तर खारवेल के हाथीगुम्फा लेख में मिलता है।[1] इसमें अंतिम नकार भी णकार नहीं है, सिद्ध के साथ सर्व शब्द का योग है और 'सिधानं' में द्वित्व ध प्रयुक्त नहीं है। यह पाठ भी बहुत पुराना है, इसलिए इसे भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

●

1. प्राचीन भारतीय अभिलेख, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ 26।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनेतर भारतीय चिन्तन में मरण की विधायें

श्रीचन्द रामपुरिया

1 मरण के प्रकार

हिन्दूशास्त्रों के अनुसार मरण पांच प्रकार के बताये जा सकते हैं :

(1) काल-प्राप्त मरण : आयु-समाप्त होने पर जीव की जो स्वाभाविक मृत्यु होती है उसे काल-प्राप्त मरण कहा गया है। यह मरण सब सांसारिक प्राणियों का होता है।

(2) अनिच्छित मरण : प्राकृतिक प्रकोप जैसे बाढ़ आ जाने, दुर्भिक्ष हो जाने, अग्नि लग जाने, बिजली गिरने अथवा दुर्घटनावश पर्वत, वृक्षादि से गिर जाने, सर्प आदि के काटने, सींग, नख, दंष्ट्र वाले पशुओं के हठात् आक्रमण करने आदि से मृत्यु को प्राप्त होना अनिच्छित मरण है।[1]

(3) प्रमाद मरण : अनवधानता—असावधानी के कारण निःशंकावस्था में अकस्मात् अग्नि, जल, शस्त्र, रज्जु, पशु आदि से मृत्यु हो जाना प्रमाद मरण कहा

---

1. प्रायः महाप्रस्थानम्। तदनिच्छतोऽपि राजभयादिना संभवतीति। अनाशकं अभोजनं एतदपि दुर्भिक्षादादनिच्छोतोऽपि संभवतीति (यहां का अंश टि. सं. 2 (ख) में दिया हुआ है)। प्रपतनं पर्वताद्वृक्षाद्वा तत्रापि दैवादबुद्धिपूर्वमपि सम्भवति (गौतम 14/11 मष्करि भाष्य)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लाता है।[2]

(4) इच्छित मरण : शास्त्रों का विधान न होने पर भी इच्छापूर्वक प्राणों का त्याग करना —उनका वियोग करना इच्छित मरण है। जैसे क्रोधादिवश मरने की इच्छा से अग्नि में गिर जाना, जल में डूब जाना, पर्वत से गिर पड़ना, विष खा लेना, शस्त्र से आघात कर लेना, अनशन करना, महाप्रस्थान करना इच्छित मरण बताए गए हैं।[3]

स्मृतियों में किस मृत व्यक्ति का अशौच नहीं होता इस प्रसंग में निम्न लेख भी मिलते हैं :

(क) जो राजदंड से निहत अथवा श्रृंगी (सींगवाले प्राणी), दंष्ट्री (दंष्ट्रयुक्त प्राणी) एवं सरिसृप—सर्पादि द्वारा निहत हैं एवं जो आत्मघाती हैं उनका सद्य शौच होता है—उनका किसी को श्राद्ध नहीं करना चाहिए।[4]

(ख) जो पापकर्मा हैं उन्हीं का चाण्डाल, जल, सर्प, ब्राह्मण, विद्युत एवं तीक्ष्ण दंष्ट्रयुक्त प्राणियों एवं पशुओं से मरण होता है। उनको दिया गया उदक अथवा पिण्डदान उन तक नहीं पहुंचता। अन्तरिक्ष में ही विनाश को प्राप्त होता है। उनका अशौच नहीं करना चाहिए। उनके लिए अश्रुपात न करे और न उनका दाहादि कर्म करे।[5]

---

2. (क) शस्त्रं खड्गादि तत्रापि प्रमादात् संभवत्येव। अग्न्यादीनि प्रसिद्धानि तत्र सर्वत्रापि प्रमादात् संभवत्येव। उद्बन्धनं रज्ज्वादिना। अत्रापि परिहासादिना अनिच्छतोऽपि सम्भवति (गौतम 14/11 मस्करि भाष्य)।
   (ख) प्रमादादथ निःशंकमकस्मात् विधिचोदितः।
   श्रृंगि-दंष्ट्रि-नखि-व्याल -विप्र-विद्युज्जलाग्निभिः।
   चण्डालैरथवा चौरैर्निहतो यत्र कुत्रचित्।
   तस्य दाहादिकं कार्यं यस्मान्न पतितस्तु सः॥—ब्रह्मपुराण
   (पराशर 3/10 की माधव टीका में उद्धृत)
3. काष्ठजललोष्टपाषाणअस्त्रविषरज्जुभिर्य आत्मानमवसादयति स आत्महा भवति (वशिष्ठ 23।15)
4. हतानां नृपगोविप्रैरन्वक्षं चात्मघातिनाम् (याज्ञवल्क्य 3/20 के बाद)
5. चण्डालादुदकात्सर्पात् ब्राह्मणाद्वैद्युतादपि।
   दंष्ट्रिभ्यश्च पशुभ्यश्च मरणं पापकर्मणाम्॥
   उदकं पिण्डदानं च प्रेतेभ्यो यत्प्रदीयते।
   नोपतिष्ठति तत्सर्वमन्तरिक्षे विनश्यति॥
   नाशौचं नोदकं नाश्रु न दाहाद्यं च कर्म च।
   ब्रह्मदण्डहतानां च न कुर्यात्करधारणम्॥—यम
   (अपरार्क द्वारा पृ. 877 पर उद्धृत)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ग) गौ और ब्राह्मण से हत का सद्य अशौच होता है। राजक्रोध से एवं युद्ध में हत का सद्य शौच होता है।[6]

उपर्युक्त उद्गारों से नृप-हत, श्रृंगी-हत, दंष्ट्री-हत, सर्प-हत, विप्र-हत, चांडाल हत, उदक-हत, व्यक्ति—ऐसे शब्द बनते हैं।

नृप-हत आदि शब्दों की व्याख्या करते हुए इन्हें दो तरह का बताया गया हैं (1) इच्छापूर्वक नृप आदि से हत और (2) नृप आदि द्वारा मारे गए। यहां प्रश्न हो सकता है नृप, श्रृंगी-पशु, सर्प आदि शस्त्र नहीं ताकि कोई उनके द्वारा अपना वध सम्पादन कर सके और नृप-हत आदि हो। फिर नृपादि द्वारा इच्छापूर्वक मरण प्राप्त करने का क्या अर्थ है? इसका उत्तर यह है कि जो नृप से विग्रह करता है, उसके प्रतिकूल चलता है, उसकी इच्छा आत्मघात करने की न हो तो भी उस विग्रह के फलस्वरूप उसके प्राणों का वियोग हो तो हिन्दुशास्त्रों के अनुसार आत्महनन करने वाला ही समझा जाएगा। कोई सर्प को हाथ में लेकर क्रीड़ा करता है, उससे छेड़-छाड़ करता है अथवा सर्पवाले क्षेत्रों से जान-बूझ कर जाना-आना करता है, उसकी इच्छा आत्मघात करने की न हो तो भी यदि सर्प के काटने से उसका मरण हो तो वह आत्मघात करनेवाला ही समझा जायेगा। जो मनुष्य दो हाथों से दुस्तर नदी को पार करने के लिए जाय और उसकी मृत्यु घटित हो तो उसे भी आत्मघात कहा गया है। इसी तरह किसी तीक्ष्ण, सींगवाली गाय को आते देख कर भी जो दूर नहीं हटता है. वर्षाकाल में अनवरत विद्युत चमकती देख कर भी जो जगत् में घूमता रहता है वह यदि गायादि से आहत हो, मारा जाय तो आत्मघाती माना गया है। सारांश यह है कि जिस कार्य से मर जाने की संभावना हो वैसे कार्य में जो व्यक्ति इच्छापूर्वक प्रवृत्त होता है अथवा उससे दूर नहीं रहता वह नृप आदि हत आत्मघाती है। इस तरह की स्थिति न होने पर तथा पूरी सावधानी के होने पर भी जो नृप आदि द्वारा मार दिया जाता है वह आत्मघाती नहीं समझा जाता और उसकी मृत्यु अनिच्छित मरण की कोटि में आती है।[7]

(5) विधि मरण : इच्छापूर्वक शास्त्रानुमोदित मरण प्राप्त करना। यह भी अग्निप्रवेश, जल-प्रवेश, आदि रूप हो सकता है।

---

6. गोब्राह्मणहतानामन्वक्षं राजक्रोधाच्च युद्धे।
गौतम 14/9-11

7. सर्पादिना चण्डालादिना वा विग्रहं कुर्व्वन् यस्तैर्हतः तस्यैवायं पिण्डदानादिनिषेधः। एवं दुष्टदंष्ट्र्यादीनि ग्रहीतुमाभिमुख्येन गच्छतो मरणेऽयमशौचादिनिषेधः। एवं राज्ञः प्रातिकूल्यामाचरतो मरणे। एवं बाहुभ्यां नदीतरणेऽपि। एवं सर्वत्रानुसन्धेयम्।
(पराशर पृ. 591-92)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2 : मरण की विधियां

गौतम धर्मशास्त्र में एक सूत्र में मरण की विधियों का बड़े सुन्दर ढंग से आकलन हुआ है। वह सूत्र इस प्रकार है : "प्रायोऽनाशकशस्त्राग्निविषोदकोदबन्धन-प्रपतनैश्चेच्छताम् 14/11" इस सूत्र में मरण की निम्न विधियां उल्लिखित हैं :

(1) प्राय : महाप्रस्थान—महायात्रा कर प्राण विसर्जन करना।[8]
(2) अनाशक[9] : अनशन कर—अन्न-जल का त्याग कर प्राण छोड़ना।
(3) शस्त्राघात : शस्त्र से प्राण त्याग करना।
(4) अग्नि प्रवेश : अग्नि में गिरकर प्राण त्याग करना।
(5) विष-भक्षण : विष खाकर या पीकर प्राण-त्याग करना।
(6) जल-प्रवेश : जल में डूबकर प्राण-त्याग करना।
(7) उद्बन्धन : गले में रज्जु आदि से फांसी लगाकर प्राण-त्याग करना।
(8) प्रपतन : पहाड़, वृक्ष, आदि से गिर कर प्राण-त्याग करना।

उक्त सूत्र में "प्रपतनैः" के बाद "च" शब्द इस बात का द्योतक है कि मरण के प्रकार अन्य भी बहुत हो सकते हैं।[10] वशिष्ठ स्मृति में निम्न दो विधियों का विशेष उल्लेख है :

(9) लोष्ट
(10) पाषाण[11]

रामायण और महाभारत में जब भी किसी पात्र के सम्मुख प्रतिकूल स्थिति वियोग, निराशा, हार आदि के प्रसंग आये उन्होंने इन्हीं उपायों में से किसी से प्राण-त्याग करने को सोचा है।

रामायण से निम्न घटनाएं दी जा सकती हैं :

(1) सीता राम के साथ वनवास जाने का आग्रह करने लगी। अपने आग्रह को बलात् मनवाने के लिए उ ाने कहा : "यदि आप इस प्रकार दुःख में पड़ी हुई मुझ सेविका को अपने साथ वन में ले जाना नहीं चाहते हैं तो मैं मृत्यु के लिए विष खा लूंगी, आग में कूद पड़ूंगी अथवा जल में डूब जाऊंगी।[11क]

---

8. प्रायो महाप्रस्थानम् (मष्करि भाष्य)।
9. अनाशकमभोजनं (मष्करि भाष्य)। अनाशकमनशनम् (याज्ञ. 3।6 की मिताक्षरा टीका)।
10. चकारादन्यैरप्येवंभूतैरात्महननहेतुभिरिति द्रष्टव्यम्। (मष्करि भाष्य)
11. देखिए टि. सं. 5 (क)
11-क. रामायण 2/29/21 :
यदि मां दुःखितामेवं वनं नेतुं न चेच्छसि।
विषमग्निं जलं वाहमास्थास्ये मृत्युकारणात्॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(2) सीता के कहने पर भी जब लक्ष्मण सीता को अकेली छोड़ सोने के मृग के शिकार में गए हुए राम की खोज में जाने के लिए तैयार नहीं हुए तब इसे अभिसन्धि समझ कर सीता रोने लगी और बोली : "लक्ष्मण ! मैं श्रीराम से बिछुड़ जाने पर गोदावरी नदी में समा जाऊंगी अथवा गले में फांसी लगा लूंगी अथवा पर्वत के दुर्गम शिखर पर चढ़कर वहां से अपने शरीर को नीचे डाल दूंगी या तीव्र विष पान कर लूंगी अथवा जलती आग में प्रवेश कर जाऊंगी, परन्तु श्री रघुनाथजी के सिवा किसी पुरुष को कदापि स्पर्श नहीं करूंगी।"[11ख]

(3) सीता का पता न चलने से हनुमानजी सोचने लगे : "यदि यह बात जाकर मैंने कही तो अपने राजा के शोक से पीड़ित हो सब वानर अपने पुत्र, स्त्री और मानवों सहित पर्वतों के शिखरों से नीचे सम अथवा विषम स्थानों से गिर कर प्राण दे देंगे अथवा सारे विष पी लेंगे या फांसी लगा लेंगे या जलती आग में प्रवेश कर जायेंगे, उपवास करने लगेंगे अथवा अपने ही शरीर में छुरा भोंक लेंगे।[11ग]

(4) भरत ने कैकेयी की भर्त्सना करते हुए कहा : "अब तू जलती आग में प्रवेश कर जा अथवा दण्डकारण्य में चली जा अथवा गले में रस्सी बांध कर प्राण दे दे। इसके सिवा तेरे लिए दूसरी कोई गति नहीं है।[11घ]

(5) सीता प्राण-त्याग के लिए उद्यत हो कहने लगी : "मैं शीघ्र ही किसी तीखे शस्त्र अथवा विष से अपने प्राण त्याग दूंगी, परन्तु राक्षस के यहाँ से मुझे कोई विष या शस्त्र देनेवाला भी नहीं है। सीता ने सोचा : चोटी पकड़ कर चोटी से फांसी लगाकर यम लोक में पहुंच जाऊंगी।[11च]

---

11 ख. गोदावरीं प्रवेक्ष्यामि हीना रामेण लक्ष्मण .
आबन्धिष्येऽथवा त्यक्ष्ये विषमे देहमात्मनः ।।
पिबामि वा विषं तीक्ष्णं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।
न त्वहं राघवादन्यं कदापि पुरुषं स्पृशे ।। रामायण 3/45/36/37

11 ग. रामायण 5/13/35-36
सपुत्रदाराः सामात्या भर्तृव्यसनपीडिताः ।
शैलाग्रेभ्यः पतिष्यन्ति समेषु विषमेषु च ।
विषमुद्बन्धनं वापि प्रवेशं ज्वलनस्य वा ।
उपवासमथो शस्त्रं प्रचरिष्यन्ति वानराः ।।

11 घ. रामायण 2/74/33 :
सा त्वमग्निं प्रविश वा स्वयं वा विश दण्डकान् ।
रज्जुं बद्ध्वाथवा कण्ठे न हि तेऽन्यत् परायणाम् ।।

11 च. रामायण 52/8/6/17 :
संजीवितं क्षिप्रमहं त्यजेयं विषेण शस्त्रेण शितेन वापि ।
विषस्य दाता न तु मेऽस्ति कश्चित् शस्त्रस्य वा वेश्मनि राक्षसस्य ।।
शोकाभितप्ता बहुधा विचिन्त्य सीताथ वेणीग्रथनं गृहीत्वा ।
उद्बध्य वेण्युद्ग्रथनेन शीघ्रमहं गमिष्यामि यमस्य मूलम् ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त घटनाओं से स्पष्ट है कि पुराकाल में आत्मघात करने के तरीके प्रायः यही माने जाते थे।

महाभारत में भी ऐसी अनेक घटनाएं हैं। उदाहरणस्वरूप :—

(1) युधिष्ठिर की लक्ष्मी को देखकर दुर्योधन ईर्ष्या से जलने लगा। वह शकुनि से बोला: मैं आग में प्रवेश कर जाऊंगा, विष खा लूंगा अथवा जल में डूब मरूंगा, अब मैं जीवित नहीं रह सकता।[11छ]

(2) शकुनि आदि को बुलाकर दुर्योधन ने कहा: यहां मैं किसी प्रकार पाण्डवों को आया देख लूंगा तो जल का भी परित्याग करके स्वेच्छा से अपने शरीर को सुखा लूंगा। मैं जहर खा लूंगा, फांसी लगा लूंगा, अपने आपको शस्त्र से मार दूंगा अथवा जलती आग में प्रवेश कर जाऊंगा। मैं पाण्डवों को फिर बढ़ते या फलते-फूलते नहीं देख सकूंगा।[11ज]

(3) दमयन्ती ने नल से कहा : "आप ही मेरा पाणिग्रहण कीजिए और बताइये मैं आपकी क्या सेवा करूं। यदि आप मुझ दासी को स्वीकार नहीं करेंगे तो मैं आपके कारण विष, अग्नि, जल अथवा फांसी को निमित्त बना कर अपना प्राण त्याग दूंगी।[11झ]

(4) उत्तरा अपने पुत्र के शोक से विह्वल हो विलाप करती हुई बोली : महाबाहु ! धर्मराज की आज्ञा लेकर मैं विष भक्षण करूंगी अथवा घोर अग्नि में प्रवेश करूंगी।[11ट]

अग्नि, जल आदि द्वारा जो प्राणों का विसर्जन करता है उसे आत्महा, आत्महन्, आत्मत्यागी अथवा आत्मघाती कहा गया है।[12]

---

11 छ. महाभारत 2-57-31 :

वह्निमेव प्रवेक्ष्यामि भक्षयिष्यामि वा विषम्।
अपो वापि प्रवेक्ष्यामि न हि शक्यामि जीवितुम्॥

11 ज. महाभारत 3-7-5-6 :

अथ पश्याम्यहं पार्थान् प्राप्तानिह कथंचन।
पुनः शोषं गमिष्यामि निरम्बुर्निरवग्रहः॥
विषमुद्बन्धनं चैव शस्त्रमग्निप्रवेशनम्।
करिष्ये न हि तानृद्धान् पुनर्द्रष्टुमिहोत्सहे॥

11 झ. महाभारत 3-56-4 :

यदि त्वं भजमानां मां प्रत्याख्यास्यसि...।
विषमग्निं जलं रज्जुमास्थास्ये तव कारणात्॥

11 ट. महाभारत 14-69-9 :

12—(क) काष्ठजललोष्टपाषाणशस्त्रविषरज्जुभिर्यं आत्मानम्
अवसादयति स आत्महा भवति।
(वशिष्ठ 23/15)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3 : आत्मघात के कारण

याज्ञवल्क्य 31 154-155 । में कहा है : "जो ज्ञातव्य. विषयवित् आत्मा में, गुणत्रय की साम्यावस्था रूप प्रकृति में और अहंकारादि विकारसमूह में निर्विशेष अर्थात् विवेकहीन होता है, वह अनशन, अग्नि शस्त्र, जल, प्रपतन आदि द्वारा आत्महत्या करने के लिए उद्यत होता है । इस प्रकार नानाविध अकार्यों में प्रवृत्त असंयतात्मा असत्कार्यों में अग्रसर हो उन-उन कर्मों से राग, द्वेष और मोह के वशीभूत हो जाता है ।[12क]

4 : आत्मघात के निषेधक वाक्यों की नगण्यता

हिन्दू शास्त्रों में आत्मघात के निषेधक वाक्य नगण्य हैं । यत्र-तत्र ऐसे वाक्य मिलते हैं, जिनमें आत्मघाती को पापी कहा गया है । इसके अतिरिक्त अशौच आदि के विधान में आत्मघाती एवं प्रकृत मृत व्यक्ति के बीच जो अन्तर रखा गया है उससे आत्मघात के विरुद्ध प्ररूपित हेय-दृष्टि का ज्ञान होता है ।[13] कुछ ऐसे वाक्य भी प्राप्त हैं जिनमें आत्मघाती को पापी कहा गया है ।[14] इसके अतिरिक्त आत्म-घात के सीधे निषेध-वाक्यों की स्थिति वही है जो यहां व्यक्त है ।

यहां हम निषेधक वाक्यों पर कुछ ऊहापोह रखेंगे । आत्मघात के विरुद्ध स्पष्ट उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (10/2/6-7) में है । वहां कहा है : "जो भी सौ वर्ष तक जीता है वह वही अमृत प्राप्त करता है । अतः वह अपना आयुष्य पूरा होने के पूर्व स्वेच्छा से न मरे क्योंकि इससे आगे के लोक बनने में मदद नहीं मिलती ।[15]"

(ख) आत्मत्यागिन्यः विषाग्न्युदकोद्बन्धनाद्यैरात्मानं यास्त्यजन्ति । (याज्ञ० 3/6 की मिताक्षरा व्याख्या) ।

(ग) विषोद्बन्धनादिभिः बुद्धिपूर्वमात्मानं ये व्यापादयन्ति ते आत्मघातिनः ।

(याज्ञ० 3/20 की मिताक्षरा व्याख्या के बाद का अंश)

12 क. ज्ञेयज्ञे प्रकृतौ चैव विकारे चाविशेषवान् ।
अनाशकाननलाघातजलप्रपतननोद्यमी ।।
एवं वृतो विनीतात्मा वितथाभिनिवेशवान् ।
कर्मणा द्वेषमोहाभ्यामिच्छया चैव बध्यते ।।

13. इस विषय में चौथा प्रकरण देखें ।

14. इस विषय में पांचवां प्रकरण देखें ।

15. यो वा शतं वर्षाणि जीवति स हैवैतदमृतम्···ननु च तस्माद् ह न पुरायुषः स्वःकामी प्रोयादलोक्यं हैत···

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनु अध्याय 6 श्लोक 31 की व्याख्या करते हुए कुल्लूक ने "न पुरायुषः स्वःकामी प्रेयात्"—इस श्रुति को उद्धृत कर लिखा है : 'स्वःकामी' शब्द का प्रयोग कर इस श्रुति वाक्य द्वारा अवैध मरण का ही निषेध किया गया है। शास्त्रविहित मरण का नहीं।[16]

मनु (6/32) पर टीका करते हुए मेधातिथि ने भाष्य में लिखा है : शास्त्र-विहित-विधि से मरने की इच्छा करने के साथ उक्त श्रुति का कोई विरोध नहीं है। अगर विरोध होता तो "न स्वःकामी प्रेयादिति" इतने ही शब्द होते। विशेष अवस्था के सिवा मरण अनभिप्रेत होने से ही, न पुरायुषः स्वःकामी प्रेयात्—अर्थात् आयुष्य पूरी होने के पूर्व देहत्याग न करे, यह शब्द रचना रखी है।[17]

इससे फलित होता है कि टीकाकारों के अनुसार उक्त श्रुतिवाक्य भी सर्व आत्म-हत्याओं का निषेधक नहीं, केवल उन्हीं आत्म-हत्याओं का निषेधक है जो स्वच्छन्द, अवैध और अशास्त्रानुमोदित हों।

5 : आत्मघाती की पारभाविक अवस्था

आत्मघातक की परभव में जो स्थिति होती है उसके वर्णन में हिन्दूशास्त्रों में जो उल्लेख प्राप्त है उनमें से मुख्य इस प्रकार हैं :

(1) ईशावास्योपनिषद् के तीसरे मन्त्र में आत्मघाती की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है: जो कोई आत्मघातक जन हैं वे मरने के बाद गाढ़ अंधकार से आवृत आसुरी नाम से पुकारी जानेवाली योनि में जाते हैं। मूल मन्त्र इस प्रकार है : "असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। ताँ स् ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये केचात्महनो जनाः।"

सीता के अपहरण के बाद जनक व्यथा से पीड़ित होकर कहते हैं : "खेद है कि बुढ़ापे से, दुःसह दुःख से तथा काय शोषक व्रतों से रस और धातु सुखा दिये जाने पर भी यह अवलंबनरहित निन्दित शरीर नहीं गिरता। ऋषि लोग मानते हैं कि अन्धकार से युक्त तथा सूर्य रहित लोक उनके लिए नियुक्त हैं जो आत्मघात करने-वाले हैं। अतः मुझ से आत्मघात भी नहीं बन पड़ता।[18]"

---

16. महाप्रस्थानाख्यं शास्त्रे विहितं चेदं मरणं तेन 'न पुरायुषः स्वःकामी प्रेयात् इति श्रुत्यपि न विरोधः। यतः 'स्वःकामी' शब्द प्रयोगादवैधमरणमनया निषिध्यते न शास्त्रीयम्।
17. जरसा विशीर्णस्यानिष्टसन्दर्शनादिना वा विदिते प्रत्यासन्ने मृत्यौ मुमूर्षतो न श्रुतिविरोधः। एवं हि तत्र श्रूयते 'न पुरायुष' इति। अवस्थाविशेषे ह्यनभिप्रेते मरणे एतावदे वावक्ष्यत् 'न स्वःकामी प्रेयादिति"।
18. अन्धतामिस्रा ह्यसूर्या नाम ते लोकास्तेभ्यः प्रतिविधीयन्ते य आत्म-घातिन इत्येवमृषयो मन्यन्ते। (उत्तररामचरित अंक 4, श्लोक 3 के बाद का अंश)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवभूति ने उत्तर रामचरित में अपने पात्र जनक से उक्त उद्‌गार निकलवाये हैं, उससे पता चलता है कि ईशावास्योपनिषद् के उक्त मन्त्र के "आत्महनो जनाः" का अर्थ से वे जल, अग्नि आदि द्वारा आत्मघात करने वाले जन—ऐसा मानते रहे।

वाल्मीकि रामायण में भी इसे आत्मघात का निषेधक वेद-वाक्य माना है।[19]

उक्त मन्त्र की व्याख्या करते हुए शांकरभाष्य में कहा है : "जो कोई आत्मा का घात करते हैं वे आत्मघाती हैं। वे कौन हैं ? जो अज्ञानी हैं। अविद्या रूपी दोष के कारण अपनी विद्यमान आत्मा का तिरस्कार करते रहने से प्राकृत अज्ञानी आत्मघाती कहे गए हैं।[20]"

इस भाष्य के अनुसार यहां "आत्महनो जनाः" का अर्थ "शस्त्र, जल, अग्नि द्वारा आत्महत्या करनेवाले लोग" ऐसा नहीं होता।

बृहदारण्यकोपनिषद् (4/4/11) में कहा गया है: "अनन्दा नाम से लोका अन्धेन तमसा वृताः। ताँ स्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाँसोऽबुधोजनाः॥" इस कथन से "असुर्या" के स्थान में "अनन्दा" है और "ये केचात्महनो जनाः" के स्थान में "अविद्वांसोऽबुधा जनाः" है। इससे भी फलित है कि "आत्महनो जनाः" शब्दों का अर्थ "अविद्वांसोऽबुधा जनाः" ही होता है। अपघात करनेवाले लोग नहीं।

इस मन्त्र के पूर्व के दो मन्त्रों का सार है—"किसी के भी धन के प्रति वासना न रख। मनुष्य से कर्म नहीं चिपकता। फल-वासना चिपकती है।" चौथे मन्त्र में आत्मतत्त्व क्या है, यह बताया गया है। इस तरह पूर्वापर प्रसंगों से भी "आत्महनो जनाः" का अर्थ अज्ञान से आत्मा का हनन करनेवाले लोग—ऐसा ही होता है।

इससे स्पष्ट है कि उक्त मन्त्र में आत्मघातक की स्थिति का नहीं पर अज्ञानी की स्थिति का वर्णन हुआ है।

(2) हारीत का अभिप्राय है: "जो आत्मा की—स्वयं की अथवा दूसरे की घात करता है वह अभिशस्त होता है।[21]"

---

19. न वेदवचनात् तात न लोकवचनादपि।
मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयागमरणं प्रति॥ (83/83)

20. आत्मानं घ्नन्तीत्यात्महनः। के ते जनाः ये ऽविद्वांस·····अविद्यादोषेण विद्यमानस्यात्मनस्तिरस्करणात्···प्राकृताविद्वांसो आत्महन उच्यन्ते।

21. यो ह्यात्मानं परं वाभिमन्यतेऽभिशस्त एव भवति
(आपस्तम्बीयधर्मसूत्रम् 1/10/28 : 16-17)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरी जगह हारीत कहते हैं : "जो धर्मशील और दृढ़व्रत नारी अपने पति के मरने पर उसका अनुगमन करती है, उसका उसे जो फल होता है वह सुनो। वह स्वर्ग में उतने ही वर्षों तक पूजित होती है जितने शरीर में रोम होते हैं अर्थात् साढ़े तीन करोड़ वर्षों तक पूजित होती है। जिस तरह मन्त्र जाननेवाला बिल से सर्प को बलात् खींच लेता है, उसी तरह नारी अपने तपोबल से मृत भर्तार को साथ ले परलोक में जाती है। जो स्त्री मरने के बाद अपने पति का अनुगमन करती है वह तीन कुलों को पुनीत करती है—मातृक, पैतृक और पति के।[22]

इससे स्पष्ट है कि हारीत का पूर्व कथन उनके अनुसार ही निरपवाद नहीं है। वह सर्व आत्मघात स्पर्शी नहीं है।

महाभारत (आदिपर्व 178/20) में कहा है : "आत्मघात करनेवाला पुरुष शुभ लोकों को नहीं पाता।"[23]

इस कथन का सही मूल्यांकन उसके पीछे जो घटना है उसको जानने से ही हो सकता है। घटना इस प्रकार है—

राजा कृतवीर्य के वंशज क्षत्रियोंने भृगुवंशी ब्राह्मणों को मारना शुरू किया। वे गर्भस्थ बालकों की भी हत्या करने लगे। एक ब्राह्मणी ने अपने तेजस्वी गर्भ को एक और की जांघ को चीरकर उसमें रख लिया। उरु भेदन कर उत्पन्न होने से बालक और्व नाम से विख्यात हुआ। उसने भृगुवंशी पूर्वजों के वध का बदला लेने के लिए सब लोकों के विनाश का निश्चय किया और तपस्या द्वारा अपनी शक्ति बढ़ाने लगा। उसने उग्र तपस्या द्वारा देवता, असुर और मनुष्यों सहित सब लोकों को संतप्त कर दिया। तब पितरों ने पितृलोक से आकर और्व से कहा : "तुम्हारी उग्र तपस्या का प्रभाव हम लोगों ने देख लिया है। अपना क्रोध रोको। यह न समझना कि जिस समय क्षत्रिय लोग हमारी हिंसा कर रहे थे, असमर्थ होने के कारण हम लोगों ने अपने कुल के वध को चुपचाप सह लिया। जब हमारी आयु बहुत बड़ी हो गई और

---

22. मृते भर्तरि या नारी कर्मशीला दृढ़व्रता।
अनुगच्छति भर्तारं शृणु तस्यास्तु यत्फलम्॥
तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि यानि वै।
तावन्त्यब्दसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते॥
मन्त्रग्राही यथा सर्पं बलादुद्धरते विलात्।
तद्वद्भर्तारमादाय मृतं याति तपोबलात्॥
मातृकं पैतृकं चापि यत्र चैव प्रदीयते।
कुलत्रयं पुनात्येषा भर्तारं यानुगच्छति॥
(मिताक्षरा द्वारा याज्ञवल्क्य 1/86 पर उद्धृत)

23. आत्महा च पुमांस्तात न लोकाल्लभते शुभान्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तब भी मौत नहीं आई, उस दशा में हम लोगों को बड़ा खेद हुआ, और हमने जानबूझ कर क्षत्रियों से स्वयं अपना वध कराने की इच्छा की। जब मौत हमें अंक में न ले सकी, तब हम लोगों ने सर्वसम्मति से क्षत्रियों को कुपित करने का उपाय ढूंढ़ निकाला। आत्महत्या करनेवाला पुरुष शुभ लोकों को नहीं पाता, इसीलिए हमने खूब सोच-विचार कर अपने ही हाथों अपना वध नहीं किया।"

स्वयं अपना वध करना, दूसरों से अपना वध करवाना अथवा अपने वध का अनुमोदन करना इन तीनों में कोई अन्तर नहीं होता। यह एक सिद्धान्त है। ब्राह्मणों ने अपने हाथों अपनी हत्या नहीं की, क्षत्रियों को उत्तेजित कर उनसे करवायी। अपने हाथों से अपनी आत्महत्या को बुरा समझा, दूसरों से आत्महत्या करवाना बुरा नहीं समझा। इस तरह महाभारत का उक्त कथन एक सिद्धान्त के रूप में नहीं केवल एक दलील के रूप में सामने आता है। ब्राह्मणों ने आत्महत्या को करने, कराने और अनुमोदन रूप से शुभ लोकों की प्राप्ति में बाधक नहीं माना।

इसके अतिरिक्त महाभारत में आत्मघात की ऐसी अनेक घटनाएं मिलती हैं, जिनमें आत्मघातक को शुभ लोकों की प्राप्ति बतलाया गया है। उदाहरणस्वरूप एक घटना इस प्रकार है—

व्यास ने कहा: "जिन-जिन श्रेष्ठ स्त्रियों को अपने पति के लोक की इच्छा हो वे सत्त्वर सावधान होकर गंगा के जल में प्रवेश करें।" व्यास का यह वचन सुन कर श्रेष्ठ स्त्रियों ने श्वसुरों की आज्ञा लेकर गंगा के जल में प्रवेश किया। वे सब साध्वियां मनुष्य देह से मुक्त होकर अपने पतियों के साथ उसी समय मिल गईं। इस तरह वे गंगा में प्रवेश कर देह से मुक्त हुई और पति के समान लोक को प्राप्त किया।[24]

6 : आत्मघाती और अशौच आदि क्रिया

अशौच आदि कर्म के संदर्भ में हिन्दूशास्त्रों में आत्मघातक को किस दृष्टि से देखा गया है, इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उल्लेख द्रष्टव्य हैं :

(1) मनुस्मृति 5/89 : "जो आत्मत्यागी होते हैं, उनकी उदकक्रिया न करे। उन्हें जलांजलि नहीं दे।"[25]

(2) वशिष्ठ 23/11 : "जो आत्मत्याग करता है वह अभिशस्त महापातकी होता है। वह सपिण्डकों द्वारा किए जाने वाले प्रेतकर्म का उच्छेदक होता है।[26]

---

24. महाभारत : 15/33/13, 22

25. आत्मत्यागिनां चैव निवर्तेतोदकक्रिया।

26. य आत्मत्याग्यभिशस्तो भवति सपिण्डानां प्रेतकर्मच्छेदः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(3) लघु यम 20 : "जो मनुष्य रज्जु आदि के उपक्रम से अपनी घात करे और यदि वह मर जाय तो उसकी मृत देह पर विष्ठादि अमेध्य वस्तुओं का लेप करे।[27]

(4) याज्ञवल्क्य 3/6 : "आत्मत्यागी अशौच और उदकक्रिया के भाजन-पात्र नहीं होते।"[28]

(5) विष्णु 22/55 : "आत्मघाती व्यक्तियों के लिए अशौच रखना और उन्हें जलांजलि देना उचित नहीं।"[29]

(6) उषन् स्मृति 7/2 : "जो अग्नि, विषादि से अपनी घात करता है उसका दाह नहीं होता और न उदकक्रिया होती है।[30]

कूर्मपुराण। उत्त. 23/73 और आपस्तम्ब में भी ऐसा ही कहा गया है।[31]

(7) संवर्त /172/ : "अपना श्रेय चाहने वाला सत्पुरुष आत्मघाती के लिए अश्रुपात न करे।[32]

(8) अग्नि पुराण 157/32 : गिरि-प्रपतन, अग्नि, फांसी, जल, शस्त्र, विद्युत आदि से मृत आत्मघातियों का अशौच नहीं होता।"[33]

(9) संवर्त 175 : "जो आत्मघाती हैं उनके प्रति की हुई उदकक्रिया, पिण्ड-दान और श्राद्ध उन तक नहीं पहुंचते। रास्ते में ही राक्षस सब लुप्त कर देते हैं।[34] यही बात अग्निपुराण 159/3 में भी कही गई है।[35]

---

27. आत्मा संघातयेद्यस्तु रज्ज्वादिभिरुपक्रमो।
मृतोऽमेध्येन लेप्तव्यो जीवितो द्विशतं दमः॥
28. सुराप्यात्मत्यागिन्यो नाशौचोदकभाजनाः।
29. आत्मत्यागिनः पतिताश्च नाशौचोदकभाजः।
30. व्यापादयेत्तथात्मानं स्वयं योऽग्निविषादिभिः।
विहितं तस्य नाशौचं न च स्यादुदकादिकम्॥
31. (क) विहितं तस्य नाशौचं नाग्निनाप्युदकादिकम्।
(ख) विहितं तस्य नाशौचं नापि कार्योदकक्रिया।
याज्ञ. 3/6 की अपरार्क टीका से
32. गोभिर्विप्रहते चैव तथा चैवात्मघातिनि।
नाश्रुप्रपातनं कार्यं सद्भिः श्रेयोऽनुकांक्षिभिः।
33. भूग्वग्निपाशकाम्भोभिर्मृतानामात्मघातिनाम्।
पतितानां च नाऽऽशौचं विद्युच्छस्रहताश्च ये।
34. महापातकीनांश्चैव तथा चैवात्मघातिनाम्।
उदकं पिण्डदानं च श्राद्धं चैव तु यत् कृतम्॥
नोपतिष्ठति तत् सर्वं राक्षसैर्विप्रलुप्यते।
35. तेषां दानं जलं चान्नं गगने तत्प्रतीयते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(10) शंख लिखित[36], कूर्म पुराण[37], वामनपुराण[38] में कहा है : "शस्त्र, अनशन, अग्नि, उद्बन्धन, रज्जु, गिरि-पतन, जल, विष, प्रमापण-महाप्रस्थान आदि द्वारा आत्मघात कर मरने पर सद्य शौच होता है।

(11) आत्मघात करने वाले द्वारा संकल्पित कोई काम दूसरा उसके नाम से न करे। उसका कोई और्ध्वदेहिक कर्म न करे। उसके वंश का कोई व्यक्ति उसका नाम न ले। वह अत्यन्त पापिष्ठ और घोर नरकस्थ होता है। उसके लिए कुछ करना अथवा उसका नाम लेना यह सब अत्यन्त भयावह है।[38क]

जो आत्मघातक की अशौच क्रिया करता है उसके विषय में लिखा है :

(1) वशिष्ठ 23/13/14 में कहा है : जो ब्राह्मण स्नेहवश आत्मघाती की प्रेतक्रिया करता है वह तप्तकृच्छ्र सहित चान्द्रायण व्रत करे।[39]

(2) संवर्त 173-174 : "जो आत्मघाती व्यक्ति के शव को वहन करता है अथवा उसका दाह करता है अथवा उसकी उदकक्रिया करता है वह चान्द्रायण व्रत करे। जो ऐसे व्यक्ति के शव का स्पर्श करता है वह कृच्छ्र व्रत करे और जो उसके वस्त्रका स्पर्श करे वह एक दिन का उपवास करे।"[40]

(3) पराशर स्मृति (4।4-7) में आत्मघाती की मृतदेह का स्पर्श करनेवाले, वहन करने वाले, अग्नि-संस्कार करने वाले, उसके गले की डोरी का छेदन करनेवाले एवं अनुगमन करने वाले की शुद्धि के लिए तप्तकृच्छ्र तप का विधान किया है।

(4) जो इनके शव का दाह करता है, स्नान कराता है, अलंकृत करता है, उनके लिए अश्रुपात करता है, उनके शव का अनुगमन करता है, उनकी शुद्धि दो तप्त

36.. अथ शस्त्रानाशकाग्निरज्जुभृगुजलविषप्रमापणेष्वेवमेव। हरलता पृ. 113

37. अग्निमरुत्प्रपतने वीतध्वन्यप्यनाशके।
गोब्राह्मणार्थं संन्यस्ते सद्यः शौचं विधीयते॥

38. विषबन्धनशस्त्राम्बुवह्निपातमृतेषु च। बालं प्रव्राजिसंन्यासे देशान्तर मृते तथा।
सद्यः शौचं भवेद्वीरः तच्चाप्युक्तं चतुर्विधः॥

38क. तेनोद्दिष्टं न चैवान्यैः कार्यमस्यौर्ध्वदैहिकम्।
न च नामापि कर्तव्यं तद्वंशस्य तदीयकम्॥
अत्यन्तनरकस्थस्य तस्य पापीयसोऽधिकम्।
कारणं कीर्तनं नाम सर्वं चैव भयावहम्॥
(मनु. 5/88 के मेधातिथि भाष्य में उद्धृत)

39. अथाप्युदाहरन्ति। य आत्मत्यागिनः कुर्यात्स्नेहात्प्रेतक्रियां द्विजः।
स तप्तकृच्छ्रसहितं चरेच्चान्द्रायणव्रतम्॥

40 एषामन्यतमं प्रेतं यो वहेत् तदहेतवे।
तथोदकक्रियां कृत्वा चरेच्चान्द्रायणव्रतम्॥
तच्छवं केवलं स्पृष्ट्वा वस्त्रं वा केवलं यदि।
पूर्वेकृच्छ्रापहारी स्यादेकाहक्षपणं तथा॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृच्छ्र प्रायश्चित्त करने से होती है।[40क]

जो आत्मघात की चेष्टा करने पर भी बच जाता है उसकी शुद्धि के लिए कहे गए विधान हैं :

(1) वशिष्ठ 23/16 :

"जो आत्महत्या का अध्यवसाय-विचार करता है उसे तीन रात्रि का व्रत करना होता है।"[41]

बाद के सूत्रों 17-20 में आत्महत्या का प्रयत्न करने पर भी जो बच जाता है उसे अपनी शुद्धि किस प्रकार करनी चाहिए इसका उल्लेख है।

(2) संवर्त 170 : "जो आत्मघात के लिए विष खाकर अथवा अग्नि में गिर कर श्याम वर्ण अथवा विचित्र वर्ण के हो गए हैं वे छह मास तक अश्रान्त भाव से कृच्छ्र तप करें।"[42]

(3) लघु यम 20-23 : "जो मनुष्य रज्जु आदि के उपक्रम से अपनी घात करे और न मरे तो दो सौ दम से उसे दंडित करे। उसके मित्र और पुत्रों में से प्रत्येक को एक दम के दण्ड से दण्डित करे। बाद में वह शास्त्रोक्त प्रायश्चित करे। जल, फांसी, अग्नि, प्रव्रज्या, अनशन, विष, प्रपतन, प्राय और शस्त्राघात—इन नौ प्रकार से जो अपने घात के लिए उद्योग करते हैं वे सर्वलोकालय से बहिष्कार योग्य हैं। चान्द्रायण अथवा तप्तकृच्छ्र द्वारा उनकी शुद्धि होती है।"[43]

7 : अध्याहार

हिन्दू धर्मशास्त्रों के उपर्युक्त उद्धरणों में सामान्य उल्लेख है कि आत्महत्या करनेवाले का अशौच आदि करना विहित नहीं। प्रश्न है, क्या यह निषेध सब आत्म-हत्या करने वालों के प्रति लागू है अथवा इन वचनों के पीछे कोई अध्याहार-सीमा भी है। यहां कुछ ऐसे उदाहरण दिए जाते हैं जिनसे इन अध्याहारों का पता चलेगा :

---

40 क : नृणां चैवाग्निदानां च स्नानालंकारकारिणाम्।
तप्तकृच्छ्रद्वये शुद्धिरश्रुपातेऽनुयायिनाम्॥

41. आत्महननाध्यवसाये त्रिरात्रम्।

42. विषाग्निश्यामशवलास्तेषामेवं विनिर्दिशेत्।

43. आत्मा संघातयेद्यस्तु रज्ज्वादिभिरुपक्रमैः।
मृतोऽमेध्येन लेप्तव्यो जीवितोद्विशतं दमः॥
दण्ड्यास्तत्पुत्रमित्राणि प्रत्येकं पणिकं दमम्।
प्रायश्चितं ततः कुर्युर्यथाशास्त्रप्रचोदितम्॥
जलाग्न्युद्बन्धनभ्रष्टाः प्रव्रज्यानाशकच्युताः।
विषप्रपतनप्रायशस्त्रघातहताश्च ये॥
नवैते प्रत्यवसिताः सर्वलोकबहिष्कृताः।
चान्द्रायणेन शुध्यन्ति तप्तकृच्छ्र द्वयेन वा॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(1) पराशर स्मृति (4 1-3) में कहा है : "जो स्त्री या पुरुष अतिमान, अतिक्रोध, स्नेह अथवा भय के कारण फांसी लगा लेता है, वह साठ हजार वर्षों तक पूय-शोणित से पूर्ण घोर अन्धकारमय नरक में गिरता है। इस तरह मरनेवाले का अग्नि-संस्कार न करे, उसे जलांजलि न दे, उसका अशौच न रखे, उसके लिए अश्रु-पात न करे।"[44]

पराशर के उपर्युक्त अभिमत से पहला अध्याहार यह निकलता है कि जहां आत्महत्या क्रोध आदि के आवेग से हुई हो वहां अशौच आदि निषिद्ध हैं।

ब्रह्मपुराण में कहा है : "जो क्रोधवश प्रायः महाप्रस्थान, विष, अग्नि, शस्त्र, फांसी, जल अथवा गिरि-वृक्ष पतन से अपनी हत्या करते हैं उनका दाह नहीं करना चाहिए, अश्रुपात नहीं करना चाहिए, उन्हें पिण्ड नहीं देना चाहिए और न उनकी श्राद्धक्रिया करनी चाहिए।[45]

इस कथन से भी पहले अध्याहार का समर्थन होता है।

(2) याज्ञवल्क्य 3/154[46] की मिताक्षरा टीका में कहा है—"विप्लववशात्कृत-प्रयत्नो भवेत्"—अर्थात् जो विवेकहीन व्यक्ति शोक, दुःखादि से अभिभूत होता है वही आत्महत्या के लिए तैयार होता है। इस तरह यहां विप्लवोत्पन्न आत्महत्या को दोषरूप अकार्य कहा है।

अतः दूसरा अध्याहार विप्लव-शोक, दुःखादि हैं। अर्थात् जिसकी आत्महत्या इन कारणों से हुई है उसकी उदक-क्रिया आदि निषिद्ध समझनी चाहिए।

(3) आपस्तम्ब के कथन[47] की व्याख्या करते हुए अपरार्क ने कहा है—"स्वयं घात करता है"—इसका अर्थ है राग से प्रवृत हो घात करता है। शास्त्र-विधि से प्रेरित होकर नहीं।"[48]

---

44. अतिमानादतिक्रोधात्स्नेहाद्वा यदि वा भयात्।
उद्बध्नीयात्स्त्री पुमान्वा गतिरेषा विधीयते।
पूयशोणितसंपूर्णे अन्धे तमसि मज्जति।
षष्टिं वर्षसहस्राणि नरकं प्रतिपद्यते।
नाशौचं नोदकं नाग्नि नाश्रुपातंच कारयेत्।

45. क्रोधात्प्रायं विषं वह्निः शस्त्रमुदबन्धनं जलम्।
गिरिवृक्षप्रपातं च ये कुर्वन्ति नराधमाः।
पतितानां दाहः स्यान्न च स्यादस्थिसंचयः
न चाश्रुपातः पिण्डो वा कार्या श्राद्धक्रिया न च।
(गौतम 14-11 की हरदत्त टीका से)।

46. ज्ञेयज्ञे प्रकृतौ चैव विकारे चाविशेषवान्।
अनाशकानलाघातजलप्रपतनोद्यमी।

47. देखिए टि. सं.31 (ख)

48. स्वयं ग्रहणाद्रागतः प्रवृत्तो न विधित इति गम्यते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह तीसरा अध्याहार राग है। रागवश आत्महत्या करनेवालों की उदक-क्रिया आदि उचित नहीं।

(4) आंगिरा में कहा है : 'जो प्रमादवश अग्नि, उदकादि से मरता है उसका अशौच करना चाहिए और उदक-क्रिया भी।"[49]

यही बात उषनस्मृति 7-3[50] और कूर्म पुराण उत्तरार्द्ध 23-64[51] में कही गई है।

प्रमाद का अर्थ "अनवधानता" किया गया है।[52] अर्थात् जहां आत्मघात इच्छा से नहीं, सावधानी के अभाव में है वहां अशौच आदि वर्जित नहीं हैं।

पराशर (3/10)[53] के कथन पर टीका करते हुए माधव लिखते हैं : "भृगु-पतन, अग्नि-मरण आदि के लिए सद्य शौच कहा है सो ये मरण प्रमादरहित दुष्मरण के उपलक्षण रूप हैं।"[54]

अतः चौथा अध्याहार होता है आत्मघात का प्रमादवश न होना।

(5) गौतम (14/11) कहते हैं "जो प्राय (महाप्रस्थान), अनाशक (आहार-त्याग) शस्त्र, अग्नि, विष, जल, फांसी अथवा प्रपतन द्वारा इच्छापूर्वक अपनी घात करते हैं, उनके लिए अशौच नहीं रखना चाहिए।"[55]

यही बात विष्णु पुराण (3/13/17) में कथित है।[56]

---

49. अथ कश्चित्प्रमादेन म्रियेताग्न्युदकादिभिः।
तस्याशौचं विधातव्यं कर्त्तव्या चौदकक्रिया॥
(मिताक्षरा द्वारा याज्ञ. 3/6 पर उद्धृत)

50. अथ कश्चित् प्रमादेन म्रियतेऽग्निविषादिभिः।
तस्याशौचं विधातव्यं कार्यन्चैवोदकादिकम्॥

51. अथकिञ्चित्प्रमादेन म्रियतेऽग्निविषादिभिः।
तस्याऽशौच विधातव्यं कार्यन्चैवोदकादिभिः॥

52. अपरार्क—"प्रमादोऽनवधानता"।

53. भृग्वग्निमरणे चैव देशान्तरमृते तथा।
बाले प्रेते च सन्न्यस्ते सद्यः शौचं विधीयते॥

54. भृग्वग्निमरणं प्रमादादिना विना दुर्म्मरणात्रोपलक्षणम् प्रायश्चित्तानुरोधात्।
तन्निमित्ते मरणे सति·····सद्यः शौचं·····।

55. प्रायानाशकशस्त्राग्निविषोदकोद्बन्धनप्रपतनैश्चेच्छताम्।
(मष्करि भाष्यः अन्वक्षमिति वर्तते। बुद्धिपूर्वं प्रायादिभिरात्मानं व्यापादयतां सद्यःशौचम्)

56. सद्यश्शौचं तथेच्छातो जलाग्न्युद्बन्धादिषु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपस्तम्ब के[57] अभिमत पर टीका करते हुए माधव कहते हैं : "आपस्तम्ब ने अग्नि आदि से आत्मघात करने वाले के लिए जो अशौच न रखने की बात कही है वह बुद्धिपूर्वक किए हुए मरण से सम्बन्धित है जैसा कि गौतम द्वारा प्रयुक्त "इच्छताम्" इच्छापूर्वक शब्द से स्पष्ट है।"[58]

याज्ञवल्क्य (3।6)[59] की मिताक्षरा व्याख्या में कहा गया है : "जो बुद्धिपूर्वक आत्मघात करता है उसी का अशौच आदि अविहित है क्योंकि गौतम के वचन में इच्छापूर्वक शब्द है।"[60]

याज्ञवल्क्य के कथन—"हतानां नृगोविप्रैरन्वक्षं चात्मघातिनाम् "की व्याख्या करते हुए मिताक्षरा में कहा है : "जो विष, उद्बन्धनादि से बुद्धिपूर्वक आत्मा का व्यापाद करते हैं वे आत्मघाती हैं। उन्हीं का सद्य शौच होता है।"[61]

इस विवेचन से फलित पांचवां अध्याहार है—आत्मघात का इच्छापूर्वक या बुद्धिपूर्वक होना।

(6) मनु० (5/81)[62] की कुल्लूक टीका में कहा है : "जो अशास्त्रीय विधि से विष, फांसी आदि द्वारा स्वेच्छा से अपने जीवन का अन्त करता है वैसे आत्म-त्यागी की उदक-क्रिया नहीं करनी चाहिए।"[63] मेधातिथि का अभिप्राय भी ऐसा ही है।[64]

याज्ञवल्क्य के उपर्युक्त कथन की टीका करते हुए अपरार्क कहते हैं : "अविहित आत्म-त्याग करनेवाले का सद्य शौच होता है।"[65] इसी सूत्र पर माधव कहते हैं :

---

57. व्यापादयेद् य आत्मानं स्वयमग्न्युदकादिभिः।
विहितं तस्य नाशौचं नापि कार्योदकक्रिया॥

58. एतं च बुद्धिपूर्व्वकमरणविषयकम्। अतएव गौतमः। 'गो ब्राह्मणहतानामन्वक्षं। राजक्रोधाच्चश्वयुद्धे। प्रायोऽनाशनशस्त्राग्निविषोदकोद्बन्धनप्रपतनैश्चेच्छताम् इति।" (पराशर 3/10) की माधवटीका)

59. मूल पाठ के लिए देखिए टि० सं० 28।

60. एतच्च बुद्धिपूर्वविषयम्····· इच्छापूर्वमात्महननविषयम् गौतमवचनेनेच्छापूर्वकमेवोदकेन हतस्याशौचादि निषेधस्योक्तत्वात्।

61 विषोद्बन्धनादिभिः बुद्धिपूर्वमात्मानं ये व्यापादयन्ति ते आत्मघातिनः····· तत्संबन्धिनां चान्वक्षम्···सद्यः शौचमित्यर्थः।

62. पाठ के लिए देखें टि० सं० 25।

63. अशास्त्रीयविषोद्बन्धनादिना कामतश्च कृतजीवितत्यागिनाम् उदकक्रिया न कर्त्तव्या।

64. आत्मनस्त्यागिनां पुरुषाणामायुषोऽक्षये स्वेच्छया शरीरं त्यजन्ति।
(मनु० 5/88 का मेधातिथि भाष्य)

65. अविहितात्मत्यागकारिणां चोपरमेऽन्वक्षं प्रत्यक्षं दृश्यमाने तच्छरीरे तत्सपिण्डनामशौचमित्यर्थः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"विधि को छोड़कर जो आत्म-त्याग करता है उसी का सद्य शौच होता है।"[66]

यह छठा अध्याहार है मरण का अविहित-अशास्त्रीय होना।

अतः प्रकरण चार और पांच के सारे कथन उपर्युक्त सीमाओं से आबद्ध हैं।

8 : प्रायश्चित और आत्मघात

हिन्दूशास्त्रों में आत्म शुद्धि की दृष्टि से पाप कृत्यों के प्रायश्चित स्वरूप विविध आत्मघात का विधान मिलता है। नीचे के उद्धरण इस विषय में यथेष्ट प्रकाश डालेंगे :

1. मनु ने कहा है:—

(1) ब्रह्मघाती अपनी इच्छा से अपने को जानकर शस्त्रधारियों के प्रहार क लक्ष्य बनाये अथवा प्रज्वलित अग्नि में सिर नीचा कर अपने को तीन बार झोंके।"[67]

(2) ब्राह्मण मोह से मदिरा पीकर उस पाप की शान्ति के लिए अग्नि के वर्ण की तप्त मदिरा पान करे, उससे शरीर दग्ध होने पर वह पाप से मुक्त होता है।[68] अथवा गोमूत्र, जल, गाय का दूध, गाय का घृत और गाय के गोबर का रस, इनमें से किसी एक को आग के समान लाल करके तब तक पीए जब तक मर न जाय।[69]

(3) "गुरुपत्नी में गमन करनेवाला अपने पाप की ख्याति करके लोहे की तप्त शय्या पर सोवे या लोहे की स्त्री-प्रतिमा बनाकर उसे आग में लाल कर अच्छी तरह उसका आलिगन करे, इस प्रकार मृत्यु होने से वह शुद्ध होता है।[70] अथवा स्वयं अपने लिंग और अण्डकोश को काटकर अंजलि में ले, जबतक देहपात न हो सीधे दक्षिण-पश्चिम के कोण में दौड़ता हुआ जाय।[71]

---

66. विधिमन्तरेणात्मत्यागकारिणां ये सम्बन्धिनः सपिण्डाः तेषाम् अन्वक्षम्।
67. लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयात्मनः।
प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवार्क्शिराः॥ 11/73॥
68. सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत्।
तया स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः॥ 11/90॥
69. गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा।
पयो घृतं वामरणाद्दोशकृद्रसमेव वा॥ 11/91॥
70. गुरुतल्प्येभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये।
सूमीं ज्वलन्तीमाश्लिष्येन्मृत्युना स विशुद्धचति॥ 103॥
71. स्वयं वा शिश्नवृषणावुत्कृत्याधाय वांजलौ।
नैऋतीं दिशमातिष्ठेदानिपातादजिह्मगः॥ 11/104॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. याज्ञवल्क्य का विधान है:—

(1) "युद्ध-स्थल में उभय पक्ष की ओर से अस्त्र-निक्षेप हो रहे हों, वहां लक्ष्य होकर अस्त्राघात से मृत्यु प्राप्त करने पर ब्रह्महत्या करनेवाला उस पाप से मुक्ति-लाभ करता है।" [72]

(2) "सुरा, जल, घृत, गोमूत्र, दूध—इनमें से किसी को अग्नि पर तप्त कर अग्निवर्ण कर उसे पी मृत्यु-प्राप्त करने पर मद्यप सुरा पीने के पाप से शुद्धिलाभ करता है।" [73]

(3) गौतम स्मृति कहती है—"ब्राह्मणघातक अपने शरीर को बिना किसी रूप से ढके तीन बार अग्नि में प्रवेश करे अथवा युद्धस्थल में अपने को शस्त्रधारी पुरुष का लक्ष्य बनाये।" [74]

(4) वशिष्ठ स्मृति में लिखा है:—

(1) "गुरुपत्नी-गामी पुरुष अण्डकोष एवं लिंग का छेदन कर उन्हें अंजलि में धर कर दक्षिण की ओर चलता जाय। जहां गतिरोध हो वहीं शरीर-पात तक रहे। अथवा अनाहार रहे, घी से शरीर को सींच कर उत्तप्त लोह-प्रतिमा का आलिंगन करे। इस प्रकार मृत्यु होने से वह पापमुक्त होता है।" [75]

(2) "आचार्यपत्नी, पुत्रवधू, शिष्यपत्नी आदि के साथ गमन करने वाले के लिए भी यही प्रायश्चित है।" [76]

131 "बार-बार मद्यपान करने पर द्विज अग्नि के समान तप्त उसी मद्य का पान करे। उससे दग्धकण्ठ हो मरण-प्राप्त होने से उसकी शुद्धि होती है।" [77]

181 "राजा के लिए अथवा ब्राह्मण के लिए संग्रामाभिमुख हो अपना घात करे। इससे प्राण-त्याग हो या नहीं हो वह पवित्र होता है।" [78]

---

72. संग्रामे वा हतो लक्ष्यभूतः शुद्धिमवाप्नुयात्।
मृतकल्पः प्रहारार्तो जीवन्नपि विशुद्धयति ॥ 3/248 ॥
73. सुराम्बुघृतगोमूत्रपयसामग्निसंनिभम्।
सुरापोऽन्यतमं पीत्वा मरणाच्छुद्धिमृच्छति ॥ 3 / 253 ॥
74. प्रायश्चित्तमग्नौ शक्तिब्रह्मघ्नस्त्रिरवच्छादितस्य लक्ष्यं वा स्याज्जन्ये शस्त्रभृताम्।
23 / 1
75. गुरुतल्पगः सवृषण शिश्नमुत्कृत्याञ्जलावाधाय दक्षिणामुखो गच्छेत्।
यत्रैव प्रतिहन्यात्तत्र तिष्ठेदाप्रलयम्। निष्कालको वा घृताभ्यक्तस्तप्तां
सूमीं परिष्वजेन्मरणात्पूतो भवतीति विज्ञायते। (20/13-14)
76. आचार्य-पुत्र-शिष्यभार्यासु चैवम्। (20/15)
77. अभ्यासे तु सुराया अग्निवर्णां तां द्विजः (पिबन्मरणात्पूतो भवतीति) । 20/22।
78. राजार्थं ब्राह्मणार्थं वा संग्रामेऽभिमुखात्मानं घातयेत्। त्रिरजितो वाऽपराद्धः
पूतो भवतीति विज्ञायते हि। 20/27-29

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(5) "ब्राह्मण का सुवर्ण चोरी करने पर केशों को छितरा राजा के समीप जा कर कहे-'मैं चोर हूं। आप मुझे शासित करें।' तब राजा उसे उदुम्बर शस्त्र प्रदान करे। चोर उससे आत्मवध करे। इससे वह पवित्र होता है" [79] अथवा उपवास कर घृत से शरीर को अभिषिक्त कर गोमय अग्नि में पैरों से लेकर समस्त देह को जला डाले। उस तरह मरने से वह पूत-पवित्र होता है।" [80]

(6) आपस्तम्बीय धर्मसूत्र में कहा है :—

(क) "गुरुतल्पगामी वृषण के सहित शिश्न को काट कर अंजलि में रखकर न लौटने के लिए दक्षिण दिशा में चला जाय। अथवा जलती हुई आग में प्रवेश कर अपने को समाप्त कर दे।"

(ख) "मद्यप आग से तपाई हुई सुरा का पान करे।"

(ग) "बिखरे बालोंवाला चोर मूसल लेकर राजा के पास जा कर अपने कर्म को बताये। राजा उससे उसको मार दे। इस प्रकार मारे जाने पर मोक्ष होता है।"

(घ) "आदेश दिये जाने पर आदेश देने वाले को पाप लगता है। वह अग्नि में प्रवेश करे अथवा तीव्र तप करे। अथवा अपने को टुकड़े-टुकड़े कर समाप्त कर दे।" [81]

---

79. ब्राह्मणसुवर्णहरणे प्रकीर्य केशान् राजानमधिवित् स्तेनोऽस्मि भोः शास्तु मां भवानिति तस्मैराजौदुम्बरं शस्त्रं दद्यात्, तेनाऽऽत्मानं प्रमाययन्मरणात् पूतो भवतीतिविज्ञायते ॥ 20/41।

80. निष्कालको वा घृताक्तो गोमयाग्निना पादप्रभृत्यात्मानमभिदाहयेन्मरणात्पूतो भवतीति विज्ञायते ॥ 20/42।

81. गुरुतल्पगामी सवृषणं शिश्नं परिवास्यांजलावाधाय दक्षिणां दिशमनावृत्तिं व्रजेत् ॥1॥
ज्वलिनां वा सूमिं परिष्वज्य समाप्नुयात् ॥2॥
सुरापोग्निस्पर्शां सुरां पिबेत् ॥3॥
स्तेनः प्रकीर्णकेशो मुसलमादाय राजानं गत्वा कर्माविक्षीत। तेनैनं हन्याद्वधे मोक्षः ॥4॥
अनुज्ञातेनुज्ञातारमेनः ॥5॥
अग्निं वा प्रविशेत्तीक्ष्णं वा तप आयच्छेत् ॥6॥
भक्तापचयेन वात्मानं समाप्नुयात् ॥7॥
19/25

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपस्तम्बीय धर्मसूत्र में पुनः कहा है : "गुरुतल्पगामी प्रज्वलित आग में प्रवेश कर दोनों ओर से जलाकर अपने को जला डाले।"[82]

(7) महाभारत के अनुसार कृतघ्न के लिए आत्मघात विहित लगता है। वहाँ कथानक है :—

वत्सनाभ महर्षि के मन में विचार उत्पन्न हुआ : "मैं प्राण त्याग के सिवा कृतघ्नों के उद्धार का दूसरा कोई उपाय किसी तरह नहीं देख पाता। धर्मज्ञ पुरुषों का कथन भी ऐसा ही है। पिता-माता का भरण-पोषण न कर के तथा गुरु-दक्षिणा न देकर मैं कृतघ्न-भाव को प्राप्त हो गया हूं। इस कृतघ्नता का प्रायश्चित्त है स्वेच्छा से मृत्यु को वरण कर लेना। अपने कृतघ्न जीवन की आकांक्षा और प्रायश्चित्त की उपेक्षा पर भारी उपपातक भी बढ़ता रहेगा। अतः मैं प्रायश्चित्त के लिए अपने प्राणों का त्याग करूँगा।" ऐसा विचार कर वे अनासक्त चित्त से मेरुपर्वत के शिखर पर जा कर प्रायश्चित्त करने की इच्छा से अपने शरीर को त्याग देने के लिए उद्यत हो गए। इसी समय धर्म ने आ कर उनका हाथ पकड़ लिया और बोले : "तुम्हारे इस आसक्तिरहित आत्मत्याग के विचार से मैं बहुत संतुष्ट हूं। तुम प्राण-त्याग के संकल्प से निवृत्त हो जाओ क्योंकि तुम शाश्वत आत्मा हो।"[82क]

9 : वानप्रस्थ और आत्मघात

असाध्य रोग होने पर अथवा विहित अनुष्ठान करने में असमर्थ होजाने पर वानप्रस्थ के लिए महाप्रस्थान अथवा गिरि-पात आदि अन्य विधियों द्वारा आत्म-घात करने का विधान हिन्दूशास्त्रों में देखा जाता है :

---

82. गुरुतल्पगामी तु सुषिरां सूमिं प्रविश्योभयत आदीप्याभिदहेदात्मानम्। ।1/10/28/15।

82क. महाभारत अनुशासनपर्व अ० 12 का उपाख्यान :
निष्कृतिं नैव पश्यामि कृतघ्नानां कथंचन।
ऋते प्राणपरित्यागं धर्मज्ञान वचो यथा।।
अकृत्वा भरणं पित्रोरदत्वा गुरुदक्षिणाम्।
कृतघ्नानां व सम्प्राप्य मरणान्ता च निष्कृतिः।
आकांक्ष्यामुपेक्षायां चोपपातकमुत्तमम्।।
तस्मात् प्राणान् परित्यक्ष्ये प्रायश्चितार्थमित्युत।।
समेरुशिखरं गत्वा निस्संगेनान्तरात्मना।
प्रायश्चित्तं कर्तुकामः शरीरं त्यक्तुमुद्यतः।।
निगृहीतश्च धर्मात्मा हस्ते धर्मेण धर्मवित्।
वत्सनाभ महाप्राज्ञ बहुवर्षशतायुष :।
परितुष्टोऽस्मि त्यागेन निःसंगेन तथाऽऽत्मनः।।
निवर्तस्व महाप्राज्ञ भूतात्मा ह्यसि शाश्वतः।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(1) मनुस्मृति में कहा है—(कोई ऐसा रोग हो जाय जिसकी चिकित्सा ही नहीं होती उस अवस्था में) वानप्रस्थ ईशान दिशा की ओर मुंह करके योगनिष्ठ होकर जल, वायु पर रहता हुआ शरीर छूट जाने तक सरलगति से बराबर गमन करता रहे।"[83]

टीकाकार कुल्लूक भट्ट कहते हैं— इसको महाप्रस्थान कहा जाता है। यह मरण शास्त्र-विहित है। "न पुरायुषः स्वःकामी प्रेयात्"—इस श्रुतिवाक्य से इसका विरोध नहीं है। "स्वःकामी" के प्रयोग द्वारा अवैध मरण का ही निषेध किया गया है। ऐसे शास्त्रीय मरण का नहीं।"[84]

(2) याज्ञवल्क्य इसका समर्थन करते हैं—(जब वानप्रस्थ समस्त धर्माचरण में अशक्त हो जाय तब) वायु-भक्षण करता हुआ ईशान दिशा की ओर मुखकर प्रस्थान करे और जबतक शरीर-पात न हो अकुटिलगति से गमन करता रहे।"[85]

(3) आदिपुराण में कहा है :" सत्व और धर्म का आश्रय लेकर हिमालय की ओर महाप्रस्थान यात्रा करनी चाहिए। महाप्रस्थान शीघ्र ही स्वर्ग की प्राप्ति कराता है।"[86]

(4) महाभारत में महाप्रस्थानिक पर्व में युधिष्ठिर आदि पाण्डवों ने किस प्रकार महाप्रस्थान किया था, इसका वर्णन है। जब युधिष्ठिर ने महाप्रस्थान का निश्चय किया तब अर्जुनादि सभी भाइयों ने इसका समर्थन कर उनका साथ दिया था (1/2/4,5) प्रजा के अनुरोध को न मान उन्होंने महाप्रस्थान का ही निश्चय रखा (1/18)। सब पाण्डवों ने वल्कल-वस्त्र धारण किए (1/20,21)[87]। फिर ब्राह्मणों से विधिपूर्वक उत्सर्ग-कालिक इष्टि करवाकर अग्नियों को जल में विसर्जन कर महायात्रा के लिए प्रस्थित हुए (1/22)[88]। सब भाइयों को इस महायात्रा से महान् हर्ष हुआ (1/23)।

---

83. अपराजितां वास्थाय व्रजेद्दिशमजिह्मगः।
आनिपाताच्छरीरस्य युक्ता वार्यनिलाशनः ॥6/31॥
84. देखिए पा० टि० 17।
85. वायुभक्षः प्रागुदीचीं गच्छेद्वाऽऽ वर्ष्मसंक्षयात् ॥3/55॥
86. महाप्रस्थानयात्रा नं कर्त्तव्या तुहिनोपरि।
आश्रित्य सत्त्वं धैर्यं च सद्यः स्वर्गप्रदा च सा ॥
(अपरार्क द्वारा पृ० 879 पर उद्धृत)
87. उत्सृज्याभरणान्यंगाज्जगृहे वल्कलान्युत।
भीमार्जुनयमाश्चैव द्रौपदी च यशस्विनी ॥
तथैव जगृहुः सर्वे वल्कलानि नराधिप।
विधिवत् कारयित्वेष्टिं नैष्ठिकीं भरतर्षभ ॥
88. समुत्सृज्याप्सु सर्वेऽग्नीन् प्रतस्थुर्नरपुंगवाः।
ततः प्ररुरुदुः सर्वाः स्त्रियो दृष्ट्वा नरोत्तमान् ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाण्डव और यशस्विनी द्रौपदी सब के सब उपवास का व्रत लेकर पूर्व दिशा की ओर मुंह करके चल दिए (1/29)[89] । सब योगयुक्त महात्मा और त्यागधर्म का पालन करनेवाले थे (1/30)[90] । वन को प्रस्थित पाण्डव क्रमशः लालसागर के तट पर पहुंचे (1/33) । वहां अग्नि के कथन पर अर्जुन ने गाण्डीव धनुष और दोनों अक्षय तरकस जल में फेंक दिए (1/42) । योगधर्म में स्थिति हो सब बड़ी शीघ्रता से चल रहे थे ।[91] सबसे पहले द्रौपदी लड़खड़ा कर पृथ्वी पर गिर पड़ी (2/3) । उसके बाद सहदेव, नकुल, अर्जुन और भीम क्रमशः भूमि पर गिर पड़े और मृत्यु को प्राप्त हुए (2।8,12,18,23) । सब के सब स्वर्ग पहुँचे (3/5,6) । युधिष्ठिर उसी शरीर से स्वर्ग पहुँचे । (3/6,22,28) ।

(5) एक व्याध के महाप्रस्थान गमन करने का वर्णन महाभारत में इस प्रकार मिलता है:—

एक व्याध ने कबूतरी को उठाकर पिंजरे में डाल दिया । व्याध भूख से पीड़ित था । कबूतरी ने पिंजरे में से ही अपने पति से कहा—"यह व्यध आपके निवास स्थान पर आ कर सर्दी और भूख से पीड़ित है । आप इसकी यथोचित सेवा कीजिएगा ।" कबूतर ने अग्नि जलाकर व्याध को गर्मी पहुंचाई । सचेत होने पर व्याध ने अपनी भूख की बात कही । कबूतर ने अपने शरीर को अग्नि में झोक दिया और बोला—आप मुझे ही ग्रहण करके मुझ पर कृपा कीजिए ।" व्याध यह देखकर बड़ा दुखी हुआ । वह अपने पापी जीवन पर पश्चात्ताप करने लगा । व्याध ने निश्चय किया कि "अब मैं पाप से मुंह मोड़कर स्त्री, पुरुष तथा अपने प्यारे प्राणों का भी परित्याग कर दूंगा । आज से मैं अपने शरीर को सम्पूर्ण भोगों से बंचित करके उसी प्रकार सुखा डालूंगा जैसे जमीन में छोटा सा तालाब सूख जाता है । भूख और प्यास का कष्ट सहन करते हुए शरीर को इतना दुर्बल बना दूंगा कि सारे शरीर की फैली हुई नाड़ियां स्पष्ट दिखाई देंगी । मैं बारंबार अनेक प्रकार से उपवास व्रत करके परलोक सुधारने वाला पुण्य कर्म करूंगा" ऐसा कहकर धर्माचरण का ही निश्चय करके वह भयानक कर्म करनेवाला व्याध कठोर व्रत का आश्रय ले महाप्रस्थान के पथ पर चल दिया ।[92]

---

89. पाण्डवाश्च महात्मानो द्रौपदी च यशस्विनी ।
कृतोपवासाः कौरव्यः प्रययुः प्रांगमुखास्ततः ।।
90. योगयुक्ता महात्मानस्त्यागधर्ममुपेयुषः ।
अभिजग्मुर्बहून् देशान् सरितः सागरांस्तथा ।।
91. तेषां तु गच्छतां शीघ्रं सर्वेषां योगधर्मिणाम् ।
याज्ञसेनी भ्रष्टयोगा निपपात महीतले ।।
92. एवमुक्त्वा विनिश्चित्य रौद्रकर्मा स लुब्धकः ।
महाप्रस्थानमाश्रित्य प्रययौ संशितव्रतः ।। (शान्ति० 147/10)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(6) मनुस्मृति में पुनः कहा है : महर्षि चर्या द्वारा अथवा अन्य तरह से शरीर का त्याग कर शोक और भय से रहित विप्र ब्रह्मलोक में पूजित होता है।"[93]

मेधातिथिभाष्य के अनुसार महर्षि-चर्या का अर्थ है—पूर्वोक्त तप और महाप्रस्थान। "अन्यतमया" का अर्थ है नदी-प्रवेश, भृगु-प्रपतन, अग्नि प्रवेश, आहार-निवृत्ति आदि द्वारा।[94]

याज्ञवल्क्य (3/55) की मिताक्षरा टीका में कहा है : "जो महाप्रस्थान करने में असमर्थ हो वह भृगुपतनादि करे।"[95]

मेधातिथि ने प्रश्न उठाया है—"श्रुति कहती है—अतएव स्वर्गगामी पुरुष आयु रहते मरण न करे' (तस्मादुह न पुरायुषः स्वःकामी प्रेयात्)। तब वानप्रस्थ शरीर त्याग कैसे कर सकता है। यह भी संभव नहीं कि वानप्रस्थधर्म विषयक स्मृति के अनुरोध से इस श्रुति का अर्थ-संकोच किया जा सके। अर्थात् यह कहना सम्भव नहीं कि वानप्रस्थ के अतिरिक्त अन्य पुरुष उस श्रुति के विषय हैं। वानप्रस्थ मरण कर सकता है अन्य नहीं। क्योंकि स्मृति की अपेक्षा श्रुति बलवती होती है, अतः स्मृति के वचन की रक्षा के लिए श्रुति का संकोच नहीं किया जा सकता।

इसके उत्तर में मेधातिथि कहते हैं : "जो व्यक्ति जरा से विशीर्ण हो गया हो, अरिष्ट दर्शन आदि से जिसे अपनी मृत्यु आसन्न दिखाई दे और मरना चाहता हो तो इसका उस श्रुति से विरोध नहीं। कारण इस श्रुति में शब्द है—"पुरायुष" अर्थात् आयु रहते मरण न करे। अवस्था विशेष में अर्थात् अतिशय जराग्रस्त होने पर अथवा अरिष्ट दर्शनादि के समय मरण करना अभिप्रेत न होता तो न "स्वः-कामी प्रेयादिति" (स्वर्गाभिलाषी पुरुष मरण न करे) ऐसा निर्देश होता"।[96]

(7) एक अन्य स्मृति में उल्लेख हैं : "वानप्रस्थ दूराध्वान[97] महाप्रस्थान, अग्निप्रवेश, जल-प्रवेश अथवा गिरि पतन का अनुष्ठान करे।"[98]

मनु ने अन्य विधियों का संकेत मात्र ही किया था। यहाँ उनका स्पष्टतः उल्लेख आ गया है।

---

93. आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वान्यतमया तनुम्।
वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते ॥ (6/32)
94. पूर्वोक्तानि तपांसि महाप्रस्थानं चानन्तरोक्तां महर्षिचर्यां। आसामन्यतमया नदी प्रवेशेनभृगुप्रपतनेनाग्निप्रवेशेनाहारनिवृत्त्या वा शरीरं त्यजेत्।
95. महाप्रस्थानेऽप्यशक्तौ भृगुपतनादिकं वा कुर्यात्।
96. देखिए पाद टिप्पणी संख्या 17।
97. मिताक्षरा के अनुसार वाराध्वानं पाठ है।
98. वानप्रस्थो दूराध्वानं ज्वलनाम्बुप्रवेशनं भृगुप्रपतनं वानुतिष्ठेत्। याज्ञवल्क्य 3/55 की टीका में मिताक्षरा और अपरार्क द्वारा उद्धृत।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(8) अग्नि में जल कर मरण प्राप्त करने का कुछ घटनाओं का वर्णन रामायण में इस प्रकार मिलता है :

(क) शरभंग मुनि राम से बोले : "तात ! दो घड़ी यहीं ठहरिये और जब तक पुरानी केंचुल का त्याग करने वाले सर्प की भांति मैं अपने जराजीर्ण अंगों का त्याग न कर दूं तब तक मेरी ही ओर देखिए।" यह कह शरभंग मुनि ने अग्नि की स्थापना करके उसे प्रज्वलित किया और मन्त्रोच्चारपूर्वक घी की आहुति देकर वे स्वयं भी उस अग्नि में प्रविष्ट हो गए। अग्नि ने उनके रोमादि सबको जला कर भस्म कर दिया। अब मुनि अग्नितुल्य तेजस्वी कुमार के रूप में प्रकट हो गए और उस अग्नि राशि के ऊपर उठकर बड़ी शोभा पाने लगे। वे अनेक लोको को लांघकर ब्रह्मलोक जा पहुंचे।[99]

(ख) शबरी ने मतंगवन का परिचय देते हुए राम से कहा था—"राम ! यहीं मेरे भी गुरुजन निवास करते थे। इसी स्थान पर उन्होंने गायत्री-मन्त्र के जप से विशुद्ध हुए अपने देहरूपी पंजर को मन्त्रोच्चारण पूर्वक अग्नि में होम दिया था।"[100] इसके बाद वह पुन: बोली : "राम ! आपने सारा वन देख लिया। अब मैं आपकी आज्ञा ले कर इस देह का परित्याग करना चाहती हूं।"[101] राम ने कहा—"तुमने मेरा बड़ा सत्कार किया। अब तुम अभीष्ट लोक की यात्रा करो" राम के इस प्रकार आज्ञा देने पर शबरी ने अपने को आग में होम कर प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी शरीर प्राप्त किया। और स्वर्गलोक को चली गईं।[102]

(9) धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्ती ने अग्नि में जल कर अपना प्राणान्त किया था, इसका उल्लेख महाभारत के आश्रमवासिक पर्व में है। संक्षेप में उसका सार यह है: पाण्डवों के वन से लौटने के बाद धृतराष्ट्र, गान्धारी, कुन्ती आदि के साथ कुरुक्षेत्र से गंगाद्वार (हरिद्वार) चले गए (37/10/11)। तपस्या के धनी धृतराष्ट्र ने वहां

---

99. रामायण: 3/5/38-42 :
ततोऽग्निं स समाधाय हुत्वा चाऽनेन मन्त्रवत्।
शरभंगो महातेजा: प्रविवेश हुताशनम् ॥
स लोकानाहिताग्नीनामृषीणां च महात्मनाम्।
देवानां च व्यतिक्रम्य ब्रह्मलोकं व्यरोहत ॥

100. रामायण: 3/74/27 :
तदिच्छाम्यभ्यनुज्ञानात्त्यक्ष्याम्येतत् कलेवरम्।

101. रामायण: 3/74/33 :
अनुज्ञातात्तुरामेणहुत्वाऽऽत्मानं हुताशने।

102. रामायण 3/74/33 :
ज्वलत्पावकसंकाशा-स्वर्गमेव जगाम ह।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कठोर तपस्या आरम्भ की। वे मुंह में पत्थर का टुकड़ा रख कर वायु का आहार करते हुए मौन रहते थे (37/12)।[103] इस अवस्था में उन्होंने छह महीने व्यतीत किए (37/13)[104]। गान्धारी केवल जल पीकर रहती थी। कुन्ती मास-मास का उपवास करती थी। संजय छठे समय अर्थात् दो दिन का उपवास किया करते थे (37/14)[105]। धृतराष्ट्र का कोई निश्चित स्थान नहीं रह गया था। वे वन में सब ओर विचरते रहते। गान्धारी आदि सब उनका अनुसरण करते (37/16) एक दिन जोर की हवा से दावाग्नि प्रज्वलित हो उठी। वन आग से घिर गया। (37/19,-21)। अग्नि को निकट आती जान धृतराष्ट्र बोले : संजय ! तुम अपने त्राण के लिए कहीं चले जाओ। हम लोग तो यहीं अपने को अग्नि में होम कर परम गति प्राप्त करेंगे (37/24)[106]। हम लोग स्वयं गृहस्थाश्रम का परित्याग करके चले आये हैं। जल, अग्नि तथा वायु के संयोग से अथवा उपवास करके प्राण त्यागना तपस्वियों के लिए प्रशंसनीय माना गया है (37/27/28)।[107] इसके बाद धृतराष्ट्र ने मन को एकाग्र किया और गान्धारी तथा कुन्ती के साथ पूर्वाभिमुख होकर बैठ गए और योगयुक्त हो गए। वे इन्द्रिय समुदाय को रोक कर काष्ठ की भांति निश्चेष्ट हो गए।[108] (37/29-31)। और तीनों ही दावाग्नि में जल कर भस्म हो गए

---

103. आतस्थे स तपस्वीव्रतं पिता तव तपोधनः ।।
वीटां मुखे समाधाय वायुभक्षोऽभवन्मुनिः ।।

104. वने स मुनिभिः सर्वैः पूज्यमानो महातपाः ।
त्वगस्थिमात्रशेषः स षण्मासानभवन्नृपः ।।

105. वयमत्राग्निनायुक्ता गमिष्यामः परां गतिम् ।
तमुवाच किलोद्विग्नः संजयो वदतां वरः ।।

106. गान्धारी तु जलाहारा कुन्ती मासोपवासिनी ।
संजयः षष्ठभुक्तेन वर्तयामास भारत ।।

107. नैष मृत्युनिष्टो नो निःसृतानां गृहात् स्वम् ।
जलमग्निस्तथा वायुरथवापि विकर्षणम् ।।
तापसानां प्रशस्यन्ते गच्छ संजय मा चिरम् ।
इत्युक्त्वा संजयं राजा समाधाय मनस्तथा ।।

108. प्राङ्मुखः सह गान्धार्याः कुन्त्या चोपाविशत् तदा ।
संजयस्तं तथा दृष्ट्वा प्रदक्षिणमथाकरोत् ।।
उवाचैनं मेधावी युंगक्ष्वात्मानमिति प्रभो ।
ऋषिपुत्रो मनीषी स राजा चक्रेऽस्यतद् वचः ।।
सन्निरुध्येन्द्रियग्राममासीत् काष्ठोपमस्तदा ।
गान्धारी च महाभागा जननी च पृथा तव ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(37/32) ।[109]

(10) जो संन्यासी आत्मघात का निश्चय कर उससे दूर होते थे वे दोषी माने जाते थे। उनकी शुद्धि के बारे में अत्रि (212-213) कहते हैं :

जो प्रव्रजित ब्राह्मण पुन: गृहस्थ होना चाहे और प्रव्रज्या को छोड़ अथवा अग्नियोग, जल-प्रवेश अथवा अनशन द्वारा देहत्याग करने का निश्चय कर गृहीत का त्याग करे उन सब ब्राह्मणों के लिए तीन प्राजापत्य अथवा एक चान्द्रायण विहित है। उक्त अवस्था में जातकर्मादि सब संस्करण पुन: कर्त्तव्य हैं।'' [109क]

10 : गृहस्थ और आत्मघात

वानप्रस्थ के लिए ही नहीं गृहस्थ के लिए भी अचिकित्स्य व्याधि आदि के समय उक्त मरण-विधियों से आत्म-घात करने का विधान मिलता है :

(1) वृद्ध गार्ग्य कहते हैं : व्याधि के कारण जिनकी चेष्टाएं लुप्त हो चुकी हों[110] उन गृहस्थों के लिए महाप्रस्थान-गमन अग्नि-प्रवेश, गिरि-पतन आदि का विधान है। व्यर्थ जीने की इच्छा न कर वे इनका अनुष्ठान करें।''[111]

(2) अत्रि स्मृति में कहा है : '' जो वृद्ध हो गया हो, शौच-शून्य हो गया हो जिसकी स्मृति लुप्त हो गयी हो, चिकित्सक ने जिसकी चिकित्सा परित्यक्त कर दी हो, यदि ऐसा व्यक्ति पर्वत की चोटी से गिरकर अथवा अग्नि में गिरकर अथवा जल में प्रवेशकर अथवा अनशन द्वारा आत्महत्या करे तो उसके पुत्रादि केवल तीन

---

109. नारद ने पाण्डवों को बताया कि धृतराष्ट्र का दाह वृथा अग्नि से नहीं हुआ है। वे वायुभक्षी धृतराष्ट्र घने जंगल में प्रवेश करने लगे तब याजकों द्वारा इष्टि करा कर तीनों अग्नियों को वहीं त्याग दिया। निर्जन वन में छोड़ी हुई वह अग्नि सर्वत्र फैल गयी। राजा धृतराष्ट्र इसी अपनी अग्नि से दग्ध हुए और परम उत्तम गति को प्राप्त हुए हैं। तुम्हें जाकर उन तीनों को जलांजलि देनी चाहिए (39/1।7/9)

109क. ये प्रव्रजिता विप्रा: प्रव्रज्याग्निजलादित: ।
अनाशकानिवर्तन्ते चिकीर्षन्ति गृहस्थितिम् ।।
धारयेत्त्रीणि कृच्छ्राणि चान्द्रायणमथापि वा ।
जातकर्म्मादिकं प्रोक्तं पुन: सस्कारमर्हति ।।

110. "लुप्तचेष्ट" श्चोच्यते य : शौचादिष्वसमर्थ : सांध्योपासनादिषु च ।

111. व्याधिभिर्लुप्तचेष्टानां गृहस्थानां विधीयते ।
महाप्रस्थानगमनं ज्वलनाम्बुप्रवेशनम् ।।
भृगुप्रपतनं चैव वृथा नेच्छेत्तु जीवितम् ।।

(याज्ञवल्क्य स्मृति 3/6 की अपरार्क टीका में उद्धृत)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिन का अशौच रखें। द्वितीय दिन अस्थि-निक्षेप और तृतीय दिन तर्पण कर चतुर्थ दिन श्राद्ध करें "[112]

(3) आदि पुराण में कहा है : "अचिकित्स्य महारोगों से पीड़ित मनुष्य यदि दीप्त अग्नि में प्रवेश कर, अथवा अनशन कर अथवा अगाध जल-राशि में डूबकर अथवा पर्वत से गिर कर अथवा हिमालय की ओर महापथ यात्रा कर अथवा प्रयाग में वट की शाखा से फांसी लगा कर देह-त्याग करता है, तो इस तरह अपने आप देह-विनाश करने वाला महामति आत्मघाती उस आत्मघात के दोष का भागी नहीं होता, उत्तम लोकों को प्राप्त करता है। वह महापापों का क्षय कर स्वर्ग में दिव्य भोगों को भोगता है। सभी प्राणियों, सभी वर्गों, सभी मनुष्यों और स्त्रियों को सभी काल में उक्त प्रकार के मरणों का अधिकार प्राप्त है। [113]

(4) ब्रह्मगर्भ में कहा है– "महाव्याधि से उपपीड़ित होने के कारण जो जीवित नहीं रह सकता अथवा धर्म का अनुष्ठान नहीं कर सकता वह अग्नि अथवा जल में प्रवेश करे अथवा महायात्रा करे। इससे वह दोष का भागी नहीं होता।" [114]

---

112. वृद्धः शौचस्मृतेर्लुप्तः प्रत्याख्यातभिषक्क्रियः।
आत्मानं घातयेद्यस्तु भृग्वग्न्यनशनाम्बुभिः ॥ 218 ॥
तस्य त्रिरात्रमशौचं द्वितीये त्वस्थिसंचयम्।
तृतीये तूदकं कृत्वा चतुर्थे श्राद्धमाचरेत् ॥ 119 ॥
(शोचस्मृतेः शौचक्रियालुप्त ·। माधव
मनु० 5/84 के मेधातिथि भाष्य में उद्धृत। अपरार्क के अनुसार ये अंगिरा के श्लोक हैं। माधव के अनुसार शातातप के।)

113. दुश्चिकित्सैर्महारोगैः पीडितस्तु पुमान्यदि।
प्रविशेज्ज्वलनं दीप्तं करोत्यनशनं तथा ॥
अगाधतोयराशिं वा भृगुप्रपतनं तथा।
गच्छेन्महापथं वाऽपि तुषारगिरिमादरात् ॥
प्रयागवटशाखानां देहत्यागं करोति वा।
स्वयं देहविनाशस्य काले प्राप्ते महामतिः ॥
उत्तमान्प्राप्नुयाल्लोकान्न चात्मघाती भवेत्क्वचित्।
महापापक्षयात्स्वर्गे दिव्यान्भोगान्समश्नुते ॥
एतेषामधिकारस्तु सर्वेषां सर्वजन्तुषु।
नराणामथ नारीणां सर्ववर्णेषु सर्वदा ॥
(याज्ञवल्क्य 3/6 की अपरार्क टीका में उद्धृत)।

114 (क). योजीवितुं न शक्नोति महाव्याध्युपपीडितः।
सोऽग्न्युदकमहायात्रां कुर्वन्नामुत्र दुष्यति ॥
(याज्ञवल्क्य 1/253 की अपरार्क टीका में उद्धृत)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(5) विवस्वत ने कहा है—" जो वृद्ध है,, जो सर्व इन्द्रियों के विषयों से विरक्त हो चुका, जो कृतकृत्य है, जो व्याधि से ग्रस्त है, उसका इच्छापूर्वक तीर्थ में मरना तप से बढ़ कर है ।" [115]

(6) गार्ग्य कहते हैं–" जो आचार-पालन में असमर्थ हो जाय वह महाप्रस्थान गमन, अग्नि–प्रवेश, जल-प्रवेश कर अथवा गिरि-पतन कर प्राण-त्याग करे । व्यर्थ जीने की इच्छा न रखे ।" [116]

(7) विवस्वत् कहते हैं : " सभी इन्द्रियों के विषयों से विरक्त एवं स्वयं के कार्यों को करने में अक्षम व्यक्ति के लिए तथा प्रायश्चित्त रूप में अग्नि-पात और महाप्रस्थान का विधान किया है ।" [116 क]

11 :—तीर्थस्थान और आत्मघाती

संसार से मुक्ति पाने की इच्छा से प्रयाग, सरस्वती और काशी आदि तीर्थों में जल-प्रवेश कर अथवा अन्य विधियों से मरण प्राप्त करने का विधान मिलता है ।

1. महाभारत वनपर्व में कहा है : 'वेद-वचन से या लोक-वचन से प्रयाग में मरने का विचार नहीं त्यागना चाहिए ।'[117]

'वेद-वचन' द्वारा निम्नलिखित वचनों की ओर संकेत है :

(1) असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता: ।
ता ँ स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये केचात्महनो जना: ।।

(ख). योऽनुष्ठातुं न शक्नोति महाव्याधिप्रपीडित : ।
सोऽग्निं वारि महायात्रां कुर्वन्नामुत्र दुष्यति ।।
(याज्ञवल्क्य 3/6 की अपरार्क टीका में उद्धृत)

115. सर्वेन्द्रियविरक्तस्य वृद्धस्य कृतकर्मण : ।
व्याधितस्येच्छया तीर्थे मरणं तपसोधिकम् ।।
(याज्ञवल्क्य 1/253 की अपरार्क टीका में उद्धृत) ।

116. महाप्रस्थानगमनं ज्वलनाम्बुप्रवेशनम् ।
भृगुप्रपतनं चैव वृथा नेच्छेत्तु जीवितुम् ।।
(याज्ञवल्क्य 1/253 की अपरार्क टीका में उद्धृत) ।

116क. सर्वेन्द्रियविरक्तस्य स्वव्यापाराक्षमस्य च ।
प्रायश्चित्तमनुज्ञातमग्निपातो महापथ : ।।
(याज्ञ० 3/6 की अपरार्क टीका में उद्धृत) ।

117 न वेदवचनात् तात न लोकवचनादपि ।
मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयागमरणं प्रति ।।
(85/83)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् आत्मघाती जन असुर्या नामक अन्धलोक में जाते हैं।

(ग) ननु च तस्मादुह न पुरायुषः स्वःकामी प्रेयात् इति श्रुतिः।

अर्थात् स्वर्ग का भी पुरुष आयुष्य समाप्त होने के पूर्व अपनी देह का त्याग न करे।

'लोकत-वचन' का अर्थ है स्मृतियों आदि में आए निषेधात्मक कथनों से।

एक मत यह कि महाभारत का कथन विप्रों पर लागू नहीं होता। दूसरा मत विप्रों पर भी लागू है क्योंकि अग्नि पुराण। 111/8। में कहा है:

न वेदवचनाद्विप्र न लोकवचनादपि।
मतिरुत्क्रमणीयाते प्रयागमरणं प्रति ।।

अर्थात् ब्राह्मण वेद-वचन अथवा लोक-वचन से अन्त समय में प्रयाग में मरण करने का विचार न छोड़े।

2. महाभारत वनपर्व में कहा है: यह बात सनत्कुमार तथा महात्मा व्यास ने कही है=पृथूदक सब तीर्थों में उत्तम है जो सरस्वती के उत्तर तीर पर रहे हुए इस तीर्थ में जप-परायण होकर अपने शरीर का त्याग करता है, उसे पुनर्मृत्यु का भय नहीं रहता।[118]

ऐसा कथन महाभारत शल्यपर्व में भी है।[119]

3. कुर्म पुराण में कहा है:

(क) 'जो व्यक्ति अपने प्राणों का गंगा-यमुना के संगम में त्याग करता है उसे वही गति मिलती है जो योगयुक्त संन्यासी मनीषि को प्राप्त होती है। जो इच्छा-पूर्वक या अनिच्छा से गंगा में मरण करता है वह मरने पर स्वर्ग में जाता है और फिर उसे नरक का दर्शन नहीं होता है।'[120]

---

118. उत्तमं सर्वतीर्थानां यस्त्यजेदात्मनस्तनुम्।
पृथूदके जप्यपरं नैनं श्वोमरणं तपेत् ।।
गीतं सनत्कुमारेण व्यासेन च महात्मना।
(83/146/147)

119. सरस्वत्युत्तरे तीरे यस्त्यजेदात्मनस्तनुम्।
पृथूदके जप्यपरो नैनं श्वोमरणं तपेत् ।।
(39/33/34)

120. या गतिर्योगयुक्तस्य संन्यस्तस्य मनीषिणः।
सा गतिस्त्यजतः प्राणान् गंगायमुनसंगमे ।।
अकामो वा सकामो वा गंगायां यो विपद्यते।
स मृतो जायते स्वर्गे नरकं च न पश्यति ।।
(1/36/147)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ख) 'जो सर्वांगपूर्ण, निरोग और पंचेन्द्रिय से युक्त मनुष्य गंगा-युमना के संगम में करीषाग्नि की साधना करता है वह उसके शरीर में जितने रोमकूप होते हैं उतने ही सहस्र वर्षों तक स्वर्गलोक में पूजित होता है।'[121]

(ग) 'जो लोक-विश्रुत इस संगम-स्थल में जल-प्रवेश करता है वह राहु के ग्रास से विमुक्त चन्द्रमा की तरह सर्व पातक से विमुक्त हो सोमलोक को प्राप्त करता है एवं हजारों-सैकड़ों वर्षों तक वहां चन्द्रमा के साथ आनन्द करता है।'[122]

(घ) 'जो अधःशिर और उर्द्ध पाद हो वहां जलधारा को पीता है वह सात हजार वर्षों तक स्वर्गलोक में महिमा प्राप्त करता है।'[123]

(च) 'जो वटमूल का आश्रय ले प्राणों का परित्याग करता है वह स्वर्गलोक अथवा सब लोकों का अतिक्रम कर रुद्रलोक में जाता है।'[124]

(छ) "जो वहां अपने शरीर को काट कर शकुनियों को देता है वह सौ हजार वर्षों तक सोमलोक में पूजित होता है।" [125]

---

121. गंगायमुनयोर्मध्ये करीषाग्निञ्च साधयेत् ।
अहीनांगो ह्यरोगश्च पञ्चेन्द्रियसमन्वित: ।।
यावन्ति रोमकूपानि तस्य गात्रेषु भूमिप ।
तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ।।
(1/37/3,4)

यही बात मत्स्य पुराण (107/8/9,10) एवं पद्मपुराण (आदि काण्ड 44।3) में कथित है ।

122. जलप्रवेश य: कुर्य्यात्संगमे लोकविश्रुते ।
राहुग्रस्तो यथा सोमो विमुक्त: सर्वपातकै: ।।
सोमलोकमवाप्नोति सोमेन सह मोदते ।
षष्टिवर्षसहस्राणि षष्टिवर्षशतानि च ।।
(1/37/9)

123. अध: शिरास्तु यो धारामूर्द्ध पाद: पिवेन्नर: ।
सप्तवर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ।।
(1/83/7)

124. वटमूलं समाश्रित्य यस्तु प्राणान् परित्यजेत् ।
स्वर्गलोकानतिक्रम्य रूद्रलोकं स गच्छति ।।
(1/37/8)

125. य: शरीरं विकर्तित्वा शकुनिभ्य: प्रयच्छति ।
शतं वर्षसहस्राणां सोमलोके महीयते ।।
(1/37/11,12)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ज) विवस्वन् कहते हैं : "धर्मार्जन में असमर्थ और पापावरण करने वाले ब्राह्मण के लिए भी तीर्थ में जा कर प्राण-त्याग करने को कहा है। धर्मार्थ के लिए देवता ब्राह्मणों में रह कर जीना चाहते हैं। अत: अधर्माचरणपूर्वक जीनेवाला ब्राह्मण तीर्थ में जा कर देह-त्याग करे।" [125क]

(4) पद्मपुराण में कहा है—

(क) "जो अग्निप्रवेश कर अथवा अनशन कर नर्मदा और कावेरी के संगम पर प्राय—विसर्जन करता है उसे अग्निवर्तिका गति प्राप्त होती है।" [126]

(ख) "जो मनुष्य जानकर या अनजानें में, इच्छा से या अनिच्छा से गंगा में मरता है वह मरने पर स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त करता है।" [127]

(5) स्कन्दपुराण में कहा है : "जो इस तीर्थ में किसी भी प्रकार से प्राण-त्याग करता है उसके आत्मघात का पाप नहीं होता और वह इच्छित वस्तु प्राप्त करता है।" [128]

(6) मत्स्य पुराण में कहा है : "जो अमरकण्टक में अग्नि, विष, जल अथवा अनशन द्वारा मरण प्राप्त करता है उसे पूर्व कथित भोगों की प्राप्ति होती है। जो अमरकण्टक की चोटी से गिरता है, उसकी वायु में उड़ते हुए वस्त्र की तरह अनवर्तिका गति होती है।" [129]

125क. धर्मार्जनासमर्थस्य कर्तु: पापांकितस्य च।
ब्राह्मणस्याप्यनुज्ञातं तीर्थप्राणविमोक्षणम्।
इच्छानि जीवितं देवा धर्मार्थं तु द्विजातिषु।
अधर्मजीविनस्तीर्थे देहत्यागो विधीयते।।
(याज्ञ० 3 / 6 की अपरार्क टीका में उद्धृत)।

126. अग्निप्रवेशं य: कुर्यादात्तथाकुर्यादनाशनम्।
अनिवर्तिका गतिस्तस्य यथा मे शंकरोऽब्रवीत्।।
(1/16/14,15)

127. ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि कामतोऽकामतोऽपि वा।
गंगायां च मृतो मर्त्य: स्वर्गं मोक्षं च विन्दति।।
(सृष्टि: 60/65)

128. यथा कथंचित्तीर्थेस्मिन् प्राणत्यागं करोति य:।
तस्यात्मघातदोषो न प्राप्नुयादीप्सितानपि।
(22/76)

129. एवं भोगो भवेत्तस्य यो मृतोऽमरकण्टके।
अग्नौ विषजले वापि तथा चैव ह्यनाशके।
अनिवर्तिका गतिस्तस्य पवनस्थाम्बरे यथा।
पतनं कुरुते यस्तु अमरेशान्नराधिप।।
(186/34,35)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(7) ब्रह्मपुराण में कहा है:

(क) "जो पुरुषोत्तम-क्षेत्र में कल्पवृक्ष के निकट कलेवर का त्याग करते हैं वहां मृत वे मनुष्य विष्णुलोक में प्रयाण करते हैं।" [130]

(ख) "जो सब पुरुष इस प्रकार देहत्याग करते हैं वे निसंशय मुक्त होते हैं। जो वट और सागर के मध्यभाग में कलेवर का त्याग करते हैं वे दुर्लभ परम मोक्ष को प्राप्त करते हैं इसमें संशय नहीं।" [131]

(ग) "अत: जो सम्यक् मोक्षाभिलाषी हैं वे सर्व प्रयत्न कर पुरुषोत्तम क्षेत्र में देह-त्याग करें।" [132]

(8) लिंगपुराण में कहा है : "यदि कोई ब्राह्मण श्रीशैल पर अपने शरीर का त्याग करता है तो वह पापों को दग्ध कर वैसे ही मुक्त होता है जैसे कि कोई अविमुक्त वाराणसी में प्राण-त्याग कर।" [133]

(9) अग्नि पुराण में कहा है : "जो वटमूल अथवा संगम में मरता है वह विष्णु-नगर को प्राप्त होता है।" [134]

(10) प्रयाग में मरण करने का विधान केवल रोगियों के लिए ही नहीं है। स्वस्थ-अस्वस्थ सबको यह अधिकार है।" [135]

11. (क) अन्तकाल में जब मर्मस्थान छिन्न होने लगते हैं तब वायु से प्रेरित मनुष्यों की स्मृति काम नहीं करती। अविमुक्त-वाराणसी में मरते समय अन्तकाल में भक्तों के ईश्वर शिव स्वयं कर्म से प्रेरित भक्तों के कानों में जप-मन्त्र

---

130. कल्पवृक्षसमीपे तु ये त्यजन्ति कलेवरम्।
तें तत्र मनुजा यान्ति मृता ये पुरुषोत्तमे।।
(68/75)

131. देहं त्यजन्ति पुरुषास्तत्र ये पुरुषोत्तमे।
कल्पवृक्षं समासाद्य मुक्तास्ते नात्र संशय:।।
वटसागरयोर्मध्ये ये त्यजन्ति कलेवरम्।
ते दुर्लभं परं मोक्षं प्राप्नुवन्ति न संशय:।।
(177/16-17)

132. तत्स्मात्सर्वप्रवत्नेन तस्मिन् क्षेत्रे द्विजोत्तम।
देहत्यागो नरै: कार्य: सम्यक्मोक्षाभिकांक्षिभि:।
(177/25)

133. श्रीशैले सन्त्यजेद् देहं ब्राह्मणो दग्धकिल्विष:।
मुच्यते नात्र सन्देहो ह्यविमुक्ते यथा शुभम्।।
(92/168-169)

134. वटमूले संगमादौ मृतो विष्णुपुरी व्रजेत्।
(111/13)

135. तस्मादातुरादेरनातुरादेश्च सर्वाधिकार:।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देते हैं। मणिकर्णिका के समीप मरण कर मनुष्य इष्ट स्थान को प्राप्त करता है। वह ईश्वर प्रेरित हो उस स्थान को पहुंचता है जो अशुद्ध आत्माओं द्वारा दुष्प्राप्य होता है। [136]

(ख) जो वाराणसी में विधानानुसार अग्नि-प्रवेश करते हैं वे शिव के मुख में प्रवेश करते हैं। जो भक्त निश्चयपूर्वक अनशन कर मरण करते हैं वे कोटिशत कल्प के बाद भी संसार में नहीं जाते। [137]

12. ब्रह्मज्ञान से ही जीवों की मुक्ति होती हैं अन्य किसी तरह से नहीं अथवा ब्रह्म ज्ञानमय क्षेत्र प्रयाग में देह-त्याग करने से। जो काशी में संस्थित हो मरण करते हैं उन्हें शिव स्वयं कान में ब्रह्मज्ञान देते हैं। वे उसके कान में तारक मंत्र देते हैं, जिससे उनकी तत्क्षण मुक्ति हो जाती है क्योंकि "तारक" देने से तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है।[138]

---

136. अन्तकाले मनुष्याणां
छिद्यमानेषु मर्मसु।
वायुना प्रेर्यमाणानां
स्मृतिर्नैवोपजायते।।
अविमुक्ते ह्यन्तकाले
भक्तानामीश्वरः स्वयम्।
कर्मभिः प्रेर्यमाणानां
कर्णजापं प्रयच्छति।।
मणिकर्ण्यां त्यजन्देहं
गतिमिष्टां व्रजेन्नरः।
ईश्वरप्रेरितो याति
दुष्प्रापामकृतात्मभिः।।
(मत्स्य पुराण 182/22, 25)।

137. अग्निप्रवेशं ये कुर्युरविमुक्ते विधानतः।
प्रविशन्ति मुखं ते मे निःसन्दिग्धं वरानने।।
कुर्वन्त्यनशनं ये तु मद्भक्ताः कृतनिश्चयाः।
न तेषां पुनरावृत्तिः कल्पकोटिशतैरपि।।
(मत्स्यपुराण 183/77-78)

138. स्कन्दपुराण (32/115-116)
ब्रह्मज्ञानेन मुच्यन्ते
नान्यथा जन्तवः क्वचित्।
ब्रह्मज्ञानमये क्षेत्रे
प्रयागे वा तनुत्यजः।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

13. वाराणसी में मरने के विषय में भी यही बात आदिपुराण में कही है: चिकिसकों ने जिसकी चिकित्सा का त्याग कर दिया है वह व्यक्ति यदि वाराणसी में गंगा के जल में प्रविष्ट हो काष्ठ और पाषाण के बीच मरण करता है तो साक्षात् शंकर उसके कान में धीरे से प्रणव तारक मन्त्र सुनाते हैं। ऐसी स्थिति वहां मरनेवाले व्यक्ति के सिवा किसी अन्य को प्राप्त नहीं होती।"[138] क

ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि पवित्र माने जानेवाले किसी भी क्षेत्र में, किसी भी प्रकार से, निरोग-अनिरोग किसी भी अवस्था में एवं किसी भी आयु में मरण प्राप्त करना हिन्दूशास्त्रों में विशेषत: पुराणों में स्पष्ट रूप से स्वीकृत है।

14. जो इस तरह आत्मघात करता उसे मन्त्र उच्चारण करना पड़ता था। वायुपुराण में कहा है कि महाप्रस्थान यात्रा करता हुआ या प्रज्वलित अग्नि में प्रविष्ट होता हुआ व्यक्ति मन को समाधिस्थ कर निम्नलिखित मन्त्र शनैः शनैः उच्चारण करे।[13]

त्वमग्न रूद्रो असुरो महोदिपस्त्व शर्धो मरुतं पृक्ष ईशिये।
[s]त्वं वातैररुणैर्यसि शंगपस्त्वं पूषा विधतः पासि नुत्मना॥

11 अन्वारोहण और अनुगमन

स्त्रियों के लिए अन्वारोहण और अनुगमन हिन्दूशास्त्रों में परम धर्म के रूप में स्वीकृत है। इस विषय की स्थिति नीचे के विवेचन से स्पष्ट होगी।

(1) विष्णुधर्मसूत्र 25/14 में कहा है :" पति के मरजाने पर स्त्री ब्रह्मचर्य का पालन करे अथवा अन्वारोहण।"[139]

स्मृतिचन्द्रिका में कहा है :" ब्रह्मचर्य और अन्वारोहण में अन्वारोहण जघन्य है क्योंकि विष्णु द्वारा वह बाद में कथित है। इसका फल ब्रह्मचर्य से निकृष्ट है।[140]

ब्रह्मज्ञानं तदेवाहं
काशीसंस्थितभागिनाम्।
दिशामि तारकं प्रान्ते
मुच्यन्ते ते तु तत्क्षणात्॥

138 क. वाराणस्यां म्रियेद्यस्तु प्रत्याख्यातभिष्क्रियः।
काष्ठपाषाणमध्यस्थो जाह्नवीजलमध्यगः॥
अविमुक्तोन्मुखस्तस्य कर्णमूलगतो हरः।
प्रणवं तारकं ब्रूते नान्यथा कस्यचित्क्वचित्॥

138 ख. यो वाहिताग्निप्रवरो वीराध्वानं गतोपिवा।
समाधाय मनः पूर्वं मन्त्रमुच्चारयेच्छनैः॥

139. मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा।

140. यत्तु विष्णुना धर्मान्तरमुक्तं मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा.....तदेतद्धर्मान्तरमपि ब्रह्मचर्यधर्माज्जघन्यम्। निकृष्टफलत्वात्।
(स्मृति च० द्वारा व्यव० पृ० 254 पर)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंगिरस् कहते हैं—सर्व स्त्रियों के लिए पति के मरने पर उसके साथ अग्नि-प्रपतन के सिवा अन्य कोई धर्म नहीं है।"[141]

अंगिरस ने विधवाओं के लिए दो मार्ग न बता एक ही मार्ग बताया है। ब्रह्मचर्य को प्रधानता देना दूर, उसको अवकाश ही नहीं दिया है।

(2) पैठनिसि में कहा है—"ब्राह्मण स्त्री के लिए मृतपति के अनुगमन का विधान नहीं है, पर अन्य वर्ण की स्त्रियों के लिए यह परम धर्म है।"[142]

अंगिरस् का भी ऐसा ही अभिमत है—"जो ब्राह्मण स्त्री अपने मृतपति का अनुगमन करती है वह आत्मघात करने से न स्वयं स्वर्ग में जाती है और न पति को वहां ले जाती है।"[143]

व्याघ्रपात् ने भी ब्राह्मण स्त्री के लिए सहमरण का निषेध किया है।"[144]

अंगिरस् ने अन्यत्र कहा है—'ब्राह्मण स्त्री पति की चिता पर उसके शव के साथ मरण कर सकती है, बाद में पृथक् चिता पर नहीं। अन्वारोहण ब्राह्मण स्त्री का भी धर्म है। अनुगमन नहीं।"[145]

इससे विद्वानों ने फलित किया है कि पैठनिसि, अंगिरस् और व्याघ्रपात् के विधान अनुगमन के विषय में हैं, सहमरण के विषय में नहीं।

मिताक्षरा टीका में कहा है—"गर्भावस्था आदि विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त पति का अनुगमन ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक सब वर्ग की स्त्रियों का साधारण कर्म है।"[146]

वेदव्यास स्मृति ।।1।53। में स्पष्ट कहा है—"ब्राह्मणी मृत-पति को साथ ले अग्नि में प्रवेश करे। यदि ऐसा न करे तो केश-भूषा न करे और शरीर को सुखा डाले।"[147]

---

141. सर्वासामेव नारीणामग्निप्रपतनादृते।
नान्योधर्मो हि विज्ञेयो मृते भर्तरि कर्हिचित्।।

142. मृतागमनं नास्ति ब्राह्मण्या ब्रह्मशासनात्।
इतरेषां तु वर्णानां स्त्रीधर्मोयं परः स्मृतः।।

143. या स्त्री ब्राह्मणजातीया मृतं पतिमनुव्रजेत्।
सा स्वर्गमात्मघातेन नात्मानं न पतिं नयेत्।।

144. न म्रियेत समं भर्त्रा ब्राह्मणी शोकमोहिता।
प्रव्रज्यगतिमाप्नोति मरणादात्मघातिनी।।

145. पृथक्चितिं समारुह्य न विप्रा गन्तुमर्हति।
अन्यासां चैव नारीणां स्त्रीधर्मोयं परः स्मृतः।।

146. अयं च सर्वासां स्त्रीणामगर्भिणीनामबालापत्यानामाचाण्डालं साधारणो धर्मः।
(याज्ञ० 1/86 की मिताक्षरा टीका)

147. मृतं भर्तारमादाय ब्राह्मणी वह्निमाविशेत्।
जीवन्ति चेत्त्यक्तकेशा तपसा शोषयेद्वपुः।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(3) पति के देशान्तर में मरण प्राप्त होने पर सूचना पाने पर उसकी स्त्री अनुगमन या अनुमरण कर सकती थी। ब्रह्म-पुराण में कहा है :" यदि पति का देहान्त देशान्तर में हो तो स्त्री उसके पादुका आदि के साथ अग्नि में प्रवेश करे। ऐसा करने वाली साध्वी स्त्री ऋग्वेद के प्रमाण से आत्मघातिनी नहीं होती।"[148]

(4) हारीत ने पतिव्रता स्त्री की परिभाषा करते हुए कहा—"जो पति के दुखित होने पर दुःखी, मुदित होने पर मुदित, उसके दूर रहने पर मलिन और कृश रहती है और जो पति के मरने पर स्वयं भी मर जाती है उसे पतिव्रता स्त्री समझना चाहिए।"[149]

(5) आपस्तम्ब कहते हैं—"जो पहले अनुगमन का विचार कर बाद में मोह से विचलित हो जाती है उसकी इस पाप से शुद्धि प्राजापत्य तप से होती है।"[150]

(6) शंख और अंगिरस कहते हैं—"पति चाहे ब्रह्मघाती हो, कृतघ्न हो, मित्रघाती हो जो स्त्री उसे लेकर मरती है वह उसे पुनीत कर देती है। जो स्त्री पति के मरने पर अग्नि में समारोहण करती है वह आचार में अरुन्धती के समान है। वह स्वर्गलोक में पूजित होती है। जब तक स्त्री पति के मरने पर अपने को उसके साथ जला नहीं डालती तब तक स्त्री-शरीर से मुक्त नहीं हो सकती; बार-बार स्त्री रूप में ही उत्पन्न होती है।"[151]

---

148. देशान्तरमृते तस्मिन्साध्वी तत्पादुकाद्वयम्।
निधायोरसि संशुद्धा प्रविशेज्जातवेदसम्॥
ऋग्वेदवादात्साध्वी स्त्री न भवेदात्मघातिनी।
त्र्यहाच्छौचे तु निवृत्ते श्राद्धं प्राप्नोति शाश्वतम्।

149. आर्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा।
मृते म्रियते या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता॥

150. चितिभ्रष्टा तु या नारी मोहाद्विचलिता ततः।
प्राजापत्येन शुध्द्येत तस्माद्वैपापकर्मणः॥
(अपरार्क द्वारा पृ० 1193 पर उद्धृत, शुद्धितत्त्व पृ० 243)

151. ब्रह्मघ्नो वा कृतघ्नो वा मित्रघ्नो वा भवेत्पतिः।
पुनात्यविधवा नारी तमादाय मृता तु या॥
मृते भर्तरि या नारी समारोहेद्धुताशनम्।
सारुन्धतीसमाचारा स्वर्गलोके महीयते॥
यावच्चाग्नौ मृते पत्यौ स्त्री नात्मानं प्रदाहयेत्।
तावन्न मुच्यते सा हि स्त्रीशरीरात्कथंचन॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(7) विष्णु पुराण 5/38/2 में उल्लेख है कि रुक्मिणी प्रमुख आठ महिलाओं ने कृष्ण के शव के साथ अग्नि में प्रवेश किया था ।[152]

(8) रामायण में सती-प्रथा के खूब उदाहरण नहीं मिलते, पर इस प्रथा की ऐतिहासिक स्थिति के प्रमाण अवश्य मिलते हैं । पतिव्रता स्त्रियों का यह आचार माना जाता था कि वे मृत-पति का अनुगमन करें ।

(क) दशरथ के देहान्त के बाद कौशल्या विलाप करती है : "मैं भी आज ही मृत्यु का वरण करूंगी । एक पतिव्रता की भांति पति के शरीर का आलिंगन करके चिता की आग में प्रवेश कर जाऊंगी ।"[153]

उपर्युक्त प्रसंग से स्पष्ट है कि पति की चिता की आग में प्रवेश करना पातिव्रत का उत्तम अंग माना जाता था ।

(ख) पतिव्रता स्त्रियां पति के मरने के बाद प्रायः जीवित रहना पसन्द नहीं करती थीं । इसी कारण हनुमान सोचने लगे : "(यदि मैं सीता का पता लगा कर नहीं लौटा तो) कृतज्ञ और सत्यप्रतिज्ञ सुग्रीव स्वयं भी प्राण विसर्जन कर देंगे । बाद में पति-शोक से पीड़ित तपस्विनी रुमा भी जान दे देगी । फिर तो रानी तारा भी जीवित नहीं रहेगी ।"[154]

(ग) रामायण (उत्तरकाण्ड 17/15/) में अन्वारोहण की निम्न घटनाएं मिलती हैं ।

बलाभिमानी दैत्यराज शम्भु ने ब्रह्मर्षि कुशध्वज पर कुपित हो रात में सोते समय उनकी हत्या कर डाली । इस पर उनकी पत्नी को बड़ा दुःख हुआ और वह अपने पति ब्रह्मर्षि कुशध्वज के शव को हृदय से लगा कर चिता की आग में प्रविष्ट हो गयी ।[155]

---

152. अष्टौ महिष्यः कथिता रुक्मिणिप्रमुखास्तु याः ।
अपगुह्य हरेर्देहं विविशुस्ता हुताशनम् ।।

153. साहमद्यैव दिष्टान्तं गमिष्यामि पतिव्रता ।
इदं शरीरमालिंग्य प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।। (2/66/12)

154. दुर्मना व्यथिता दीना निरानन्दा तपस्विनी ।
पीडिता भर्तृशोकेन रुमा त्यक्ष्यति जीवितम् ।।
बालिजेन तु दुःखेन पीडिता शोककर्शिता ।
पंचत्वमागता राज्ञी तारापि न भविष्यति ।। (5/13/29-30)

155. रामायण (7।17/15)
ततो में जननी दीना तच्छरीरं पितुर्मम ।
परिष्वज्य महाभागा प्रविष्टा हव्यवाहनम् ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(9) महाभारत में सतीप्रथा का साक्षात् स्वरूप सामने आता है । वह प्रथा उस काल में सम्पूर्णत: पल्लवित दिखाई देती है । महाभारत में कहा है: साध्वी स्त्री यदि पहले मर गई हो तो परलोक में जाकर वह पति की प्रतीक्षा करती है और यदि पहले पति मर गया हो तो सती स्त्री पीछे से उसका अनुगमन करती है । [155]

सती होने के कुछ प्रसंग भी महाभारत में उपलब्ध हैं :

(क) पाण्डु के स्वर्गवास के बाद ऋषि पाण्डु के पुत्रों पाण्डु और माद्री के शरीरों की अस्थियों को लेकर पाण्डु की राजधानी कुरूजांगल देश की राजधानी हस्तिनापुर में पहुंचे । वहां भीष्मजी से बोले : राजा पाण्डु उत्तम पुत्रों की उपलब्धि करके आज से सतरह दिन पहले पितृलोकवासी हो गए । जब वे चिता पर सुलाये गए और उन्हें अग्नि के मुख में होम दिया गया, उस समय देवी माद्री अपने जीवन का मोह छोड़कर उसी अग्नि में प्रविष्ट हो गयी । [157]

(ख) पारधी के चले जाने पर शोक से कृश होली अपने पति का स्मरण कर रोती हुई बोली:" अपने पति के समान स्त्रियों के लिए कोई नाथ नहीं और पति के समान कोई दूसरा सुख नहीं इस प्रकार अत्यन्त दुख के कारण वह जाज्वल्यमान अग्नि में कूद पड़ी । तब उसे दिव्यरूप में पति के दर्शन हुए ।" [158]

(ग) कृष्ण की कुछ माताओं के अन्वारोहण का वर्णन इस प्रकार है : "अर्जुन ने एक बहुमूल्य विमान सजाकर उस पर वसुदेवजी के शव को सुलाया और मनुष्यों के कन्धों पर उठवा कर वे उसे नगर से बाहर ले गए । वीर वसुदेवजी की पत्नियां वस्त्र और आभूषणों से सजधज कर पति की अरथी के पीछेपीछे जा रही थीं । वसुदेवजी को अपने जीवन काल में जो स्थान विशेष प्रिय था, वहीं लेजाकर अर्जुन आदि ने उनका पितृमेधकर्म किया । [159] चिता की प्रज्वलित अग्नि में सोये हुए वीर शूरपुत्र वसुदेवजी के साथ उनकी चारों पत्नियां-देवकी, भद्रा, रोहिणी तथा मदिरा भी चिता पर जा बैठीं और उन्हीं के साथ भस्म हो पतिलोक को प्राप्त हुईं ।" [160]

---

156. प्रथमं संस्थिता भार्या पतिं प्रेत्य प्रतीक्षते ।
पूर्व-मृतं च भर्तारं पश्चात् साध्व्यनुगच्छति ।। (1/74/46।।)
157. तं चितागतमाज्ञाय वैश्वानरमुखे हुतम् ।
प्रविष्टा पावकं माद्री हित्वा जीवितमात्मन: ।। (1/125/30)
सा गता सह तेनैव पतिलोकमनुव्रता ।
तस्यास्तस्य च यत् कार्यं क्रियतां तदनन्तरम् ।। (1/125/31 ।।)
158. महाभारत : (12/148/9-10)
159. महाभारत : मौसलपर्व : (7/19-24)
160. महाभारत : मौसलपर्व : (7/24)
तं चिताग्निगतं वीरं शूरपुत्रं वरांगना : ।
ततोऽन्वारूरूहु: पत्न्यश्चतस्र : पतिलोकगा: ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रुक्मिणी, गान्धारी, शैव्या, हैमवती तथा जाम्बवती देवी ने भी पतिलोक की प्राप्ति के लिए अग्नि में प्रवेश किया था। [161]

13. वैराग्य और आत्महत्या

वैराग्य अवस्था में तपस्या और अनशन द्वारा देह-त्याग करने का विधान रहा है।

(1) महाभारत अनुशासनपर्व 125/63/64। में कहा है—"जो वेदान्त का ज्ञाता द्विज इस जीवन को नाशवान् समझ कर देवताओं का पूजन तथा मुनियों को प्रणाम करके हिमवान् पर्वत पर विधिपूर्वक अनशन के द्वारा अपने प्राणों को त्याग देता है, वह सिद्ध हो कर सनातन ब्रह्मलोक को जाता है।" [162]

(2) निराहारव्रत कर देह-त्याग का एक वर्णन महाभारत आदिपर्व 75/58-59। में इस प्रकार मिलता है—

"पुरु का राज्याभिषेक करने के पश्चात् राजा ययाति ने अपनी पत्नियों के साथ भृगुतुंग पर्वत पर जाकर सत्कर्मों का अनुष्ठान करते हुए वहां बड़ी भारी तपस्या की। इस प्रकार दीर्घकाल व्यतीत होने के बाद स्त्रियों सहित निराहार व्रत करके उन्होंने स्वर्गलोक प्राप्त किया।" [163]

(3) सत्यवती के देह-त्याग का वर्णन आदिपर्व 127/12, 13/ में इस प्रकार है—

"पाण्डु के देहान्त के बाद सत्यवती अपनी दोनों पतोहुओं को साथ ले वन को चली गयी। वन में अंत्यन्त घोर तपस्या कर के शरीर त्याग कर अभीष्ट गति को प्राप्त हो गई।" [164]

---

161. महाभारत मौसलपर्व (7/73)
रुक्मिणी त्वथ गान्धारी शैव्या हैमवतीत्यपि।
देवी जाम्बवती चैव विविशुर्जातवेदसम्॥

162. शरीरमुत्सृजेत् तत्र विधिपूर्वमनाशके।
अध्रुवं जीवितं ज्ञात्वा यो वै वेदान्तगो द्विजः॥
अभ्यर्च्य देवतास्तत्र नमस्कृत्य मुनीन् तथा।
ततः सिद्धो दिवं गच्छेद् ब्रह्मलोकं सनातनम्॥

163. ततः स नृपशार्दूल पुरुं राज्येऽभिषिच्य च।
ततः सुचारितं कृत्वा भृगुतुंगे महातपाः॥
कालेन महता पश्चात् कालधर्ममुपेयिवान्।
कारयित्वा त्वनशनं सदारः स्वर्गमाप्तवान्॥

164. वनं ययौ सत्यवती स्नुषाभ्यां सह भारत॥
ताः सुघोरं तपस्तप्त्वा देव्यो भरतसत्तम।
देहं त्यक्त्वा महाराज गतिमिष्टां ययुस्तदा॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

14. आत्माघात और फल

आत्मघात के फल के विषय में निम्न मन्तव्य द्रष्टव्य हैं :

(1) वसिष्ठ कहते हैं : "पर्वत से गिरकर प्राण-त्याग करने से राज्य-लाभ एवं अनशन कर प्राण-त्याग करने से स्वर्ग-लाभ होता है। [165]

(2) व्यास कहते हैं :" जल में डूबकर प्राण-त्याग करनेवाला सात हजार वर्षों तक, अग्नि में प्रविष्ट हो प्राण त्यागनेवाला चौदह हजार वर्षों तक फल प्राप्त करता है। अनशन कर प्राणत्याग करनेवाले के लिए तो फल प्राप्ति के वर्षों की संख्या की सीमा ही नहीं हैं।" [166]

(3) महाभारत अनुशासनपर्व में कहा है :

(क) "जो आमरण अनशन का व्रत ले कर बैठता है, उसके लिए सर्वत्र सुख बताया गया है।" [167]

(ख) "अनशन से स्वर्ग की प्राप्ति होती है।" [168]

15. कलियुग और मरण

आदित्य पुराण में जो कलिवर्ज्य दिए हैं उनमें महाप्रस्थानगमन [169] और वृद्धादि का पर्वत से गिर कर अथवा अग्नि में गिरकर मरण करने का भी वर्णन आया है। [170]

वृहन्नारदीय पुराण में कहा है : "मनीषियों ने कहा कि कलियुग में महा-प्रस्थानगमन आदि धर्म वर्जित हैं।" [171]

यह सोचा जाता है कि कलियुग में वृद्धादि का पर्वत से अथवा अग्नि में गिर कर मरने का जो निषेध है वह जानबूझ कर किए हुए महापातकों के प्रायश्चित्त के

---

165. भृगुप्रपतनाद्राज्यं नाकपृष्ठमनाशकात्।
166. जले सप्त सहस्राणि चतुर्दश हुताशने।
अनाशकस्य राजेन्द्र फलसंख्या न विद्यते॥
(याज्ञ० 3/6 की टीका में अपरार्क द्वारा उद्धृत)
167. महाभारत अनुशासनपर्व (7/16)
प्रायोपवेशिनो राजन् सर्वत्र सुखमुच्यते।
168. महाभारत अनुशासनपर्व (7/18)
नाकपृष्ठमनाशके
169. महाप्रस्थानगमनं गोसंज्ञपिश्च गोसवे (1/9)
170. भृग्वग्निपतनाद्यैश्च वृद्धादि मरणं तथा (1/35)
171. महाप्रस्थानगमनं गोमेधश्च तथा मखः।
एतान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए हो तो वर्ज्य हैं अन्यथा नहीं। इस सम्बन्ध में एक श्लोक इस रूप में प्राप्त भी है : "जो इच्छापूर्वक महापाप करता है उस मनुष्य की उस पाप से निष्कृत्ति गिरि-पतन अथवा अग्नि में प्रवेश करने से नहीं होती।" [172]

शुद्धितत्त्व में कहा है : "कलियुग में जल-प्रवेश आदि शूद्र तक ही सीमित हैं। ब्राह्मणादि के लिए कलियुग में उनका निषेध है।" [173]

172. यः कामतो महापापं नरः कुर्यात्कथंचन।
न तस्य निष्कृतिर्दृष्टा भृग्वग्निपतनादृते ॥
(मिताक्षरा द्वारा याज्ञ0 3/226 पर उद्धृत)

173. जलप्रवेशादिक तु कलो शूद्रस्यैव।
ब्राह्मणादीनां तु आदित्यपुराणेन सगुणाद्यशौच
प्रकरणोक्तेन निषेधात्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिरि भगवई जोड़

रचयिता

श्री मज्जयाचार्य

तेरापंथ सम्प्रदाय के चतुर्थ आचार्य का नाम जीतमल जी था। उन्होंने अपना उपनाम 'जय' रखा, अतः उन्हें जयाचार्य कहा जाने लगा। आपने नौ वर्ष की अवस्था में मुनि-जीवन ग्रहण किया और दो वर्ष बाद ही आप काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए देखे जाते हैं। आपने इतिहास, तत्त्वज्ञान, आगम, उपदेश, स्तुति, जीवन-चरित्र, आख्यान, विधान, व्याकरण, दर्शन, संस्मरण आदि विषयों से सम्बन्धित कुल 128 कृतियों की रचना की जिनमें अधिकांश पद्यबद्ध हैं। इनका अनुष्टुप पद्य परिणाम 286307 ग्रंथाग्र होता है। उनकी कृतियों में सबसे विशाल कृति भगवती की जोड़ है, जो 501 ढालों में रचित है। इसमें 4993 दोहे, 22254 गाथाएँ, 6551 सोरठें, 431 छंद, 11,323 कलश—इस प्रकार कुल 52,932 पद है। इसकी ग्रंथाग्र संख्या 60906 होती है। इस गेय पद्य-रचना में 292 रागिनियों का प्रयोग हुआ है। यह कृति सं० 1924 पौष शुक्ल 10 के दिन बीदासर में सम्पूर्ण है।

भगवई सूत्र जैनों के 11 अंगों में पाँचवाँ अंग है। यह प्राकृत भाषा में है और कृति गद्यबद्ध है। इस पर अभयदेव सूरी की टीका उपलब्ध है। श्रीमद् जयाचार्य ने इसी अंग का अनुवाद राजस्थानी भाषा में संगीतमय ढालों में अपनी कृति 'भगवती की जोड़' में दिया है। उन्होंने मूल अंग का ही अनुवाद नहीं साथ-साथ वृत्ति का भी अनुवाद किया है और जहाँ उनका अभिमत वृत्ति से भिन्न रहा, वहाँ विस्तृत वार्त्तिकाएँ दी हैं।

राजस्थानी भाषा के ग्रन्थों में इसे सबसे बड़ा ग्रंथ होने का गौरव है और अपनी विषय-सम्पदा के कारण तो यह एक अगाध समुद्र ही है।

श्रीमद् जयाचार्य ने 'भगवई' अंग और उसकी वृत्ति का अनुवाद किस पद्धति से किया है, यह तो ग्रंथ के मूल अंशों के अनुवाद को देखने से ही हृदयंगम होगा। यहाँ हम वृत्ति के प्रारंभिक अंश के अनुवाद मात्र को दे रहे हैं। वृत्ति के बीच ढाल की गाथाओं के अंक लगा दिये गए हैं, जिससे किस अंश का अनुवाद ढाल के किस पद में है इसका पता लग जायेगा। हम जयाचार्य की इस कृति के अंशों को समय-समय पर प्रकाशित करते रहेंगे।

—श्रीचन्द रामपुरिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्र प्रभावना

[श्री अभयदेव सूरि कृत वृत्ति]

'विआहपण्णत्ति' त्तिसञ्ज्ञितस्य पञ्चमाङ्गस्य समुन्नतजयकुञ्जरस्येव (१।१), ललितपदपद्धतिप्रबुद्धजनमनोरञ्जकस्य (१।२),[1] उपसर्गनिपाताऽव्ययस्वरूपस्य (१।३-४), घनोदारशब्दस्य (१।५), लिङ्गविभक्तियुक्तस्य (१।६), सदाख्यातस्य (१।७), सल्लक्षणस्य (१।७), देवताधिष्ठितस्य (१।८), सुवर्णमण्डितोद्देशकस्य (१।९), नानाविधाद्भुतप्रवरचरितस्य (१।१०), षट्त्रिंशत्प्रश्नसहस्र प्रमाणसूत्रदेहस्य (१।१०), चतुरनुयोगचरणस्य (१।१०-१३), ज्ञान-चरणनयनयुगलस्य (१।१४), द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनयद्वितयदन्तमुसलस्य (१।१४), निश्चय-व्यवहारनयसमुन्नतकुम्भद्वयस्य (१।१५) योग-श्रेमकर्णयुगलस्य ( )[2], प्रस्तावनावचन रचनाप्रकाण्डशुण्डादण्डस्य (१।१६), निगमनवचनातुच्छपुच्छस्य (१।१६), कालाद्यष्टप्रकारप्रवचनोपचारचारुपरिकरस्य (१।१७), उत्सर्गाऽपवादसमुच्छलदतुच्छघण्टायुगलघोषस्य (१।१८), यशःपटहपटुप्रतिरवाऽऽपूर्णदिक्चक्रवालस्य (१।१९), स्याद्वादविशदांकुशवशीकृतस्य (१।२०), विविधहेतुहेतिसमूहसमन्वितस्य (१।२१), मिथ्यात्वाऽज्ञाना-ऽविरमणलक्षणरिपुबलदलनाय श्रीमन्महावीरमहाराजेन नियुक्तस्य (१।२१), बलनियुक्त कल्पगणनायकमतिप्रकल्पितस्य (१।२२), मुनियोधैरनाबा धमधिगमाय पूर्वमुनिशिल्पिकल्पितयोर्बहुप्रवरगुणत्वेऽपि ह्रस्वया महतामेव वाञ्छितवस्तुसाधनसमर्थयोर्वृत्ति-चूर्णिनाडिकयोः (१।२३), तदन्येषां च जीवाभिगमादिविविधविवरणदवरकलेशानां संघट्टनेन बृहत्तरा (१।२४), अत एवाऽमहतामप्युपकारिणी हस्तिनायकादेशादिव (१।२५) गुरुजन वचनात् पूर्वमुनिशिल्पिकुलोत्पन्नैरस्माभिर्नाडिकेवेयं वृत्तिरारभ्यते।

---

1. कोष्ठक के अंकों में से पहला अंक ढाल और दूसरा अंक गाथा का सूचक है। मूल रचना में इस स्थल की व्याख्या अंकों द्वारा सूचित स्थल में है।
2. इस अंश का ढाल में अनुवाद नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुहा

ॐ पंच परमेष्टि नमि, भिक्षु भारीमाल ।
नृपति इंदु प्रणमी रचूं, 'भगवइ जोड़' विशाल ।। 1 ।।
इक सय अड़ती शतक सहु, बड़ा शतक इकताल ।
उगणीसो पणवीस वर, निमल उद्देशा न्हाल ।। 2 ।।
इकतीसमा शतक ना, अष्टवीस उद्देश ।
मतांतरे गुणतीस कहै, जाणै बहुश्रुत रेस ।। 3 ।।

ढाल १ ली

(सोई रे सयाणा अवसर साधै, अवसर साधिनै स्वाम आराधै)

१ : जय-कुंजर

पंचमै अंग 'भगवती' पवरं, द्वितीय नाम आख्यो तसु अवरं ।
सरस 'विवाहपण्णत्ति' सारं, जय-कुंजर गज जिम जयकारं । 1 ।।
जय-कुंजर गज जिम जयवंतो, समय भगवती सषर सोहंतो ।
ललित मनोहर जे पद केरी, पद्धति रचना पंक्ति सुहेरी ।
पंडितजन-मन-रंजन प्यारो, प्राज्ञ रिझावणहार प्रचारो ।। 2 ।।
अव्यय फुन उपसर्ग निपातं, ए त्रिहुंनोज स्वरूप सुजातं ।
प्रादिक उपसर्ग चादि निपातं, प्रादिक चादिक अव्यय ख्यातं[1] ।। 3 ।।
हस्ति पक्षे एम सलहियै, उपसर्ग तेह उपद्रव कहीयै ।
तेह निपात मिट्यै पिण वारु, अव्यय अक्षय रूप सुचारु ।। 4 ।।
घन उदार रव ए सूत्रै छै, हस्ति पक्षे हिव कहियै छै ।
घन ते मेघ तणी पर सारं, ध्वनि गंभीर शब्द सुखकारं ।। 5 ।।
ए सूत्र विभक्ति लिंग करि युक्तं, हस्ति पक्षे तसु इम उक्तं ।
पुरुष चिन्ह रचना करि सहितं, एह अर्थ पंडित जन ग्रहितं ।। 6 ।।

---

1. वार्त्तिक

प्र, परा, अप, सम, अनु, अव, निस, निर्, दुस,दुर्, अभि, वि, अधि, सु, इत्यादिक प्र आदि देइनै उपसर्ग कहियै । च, वा, अह, एवं, नूनं, स्वस्ति अस्ति इत्यादिक आदि देइनै निपात कहियै । अनै वलि 'प्र' प्रमुख उपसर्ग, वलि 'च' प्रमुख निपात—ए विहुं नै अव्यय संज्ञा कहियै ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ए भगवती सूत्र सदाइ ख्यातं, लक्षण पिण रूड़ा अवदातं ।
गज पक्षे पिण प्रसिद्ध कहियै, रूडा रूडा लक्षण लहियै ।। 7 ।।
एह भगवती देव-अधिष्ठत, ते गणधर श्रुतदेवत सेवित ।
गज पक्षे देवांशी कहियै, सुर वर पिण तसु सेव सलहियै ।। 8 ।।
सुवर्ण मंडित समय उद्देश, वर अक्षर सोभित सुविशेष ।
जय-कुंजर गज पक्षे जाणी, सिरोभाग अति प्रशस्त माणी ।। 9 ।।
अद्भुत चरित्र नानाविधि लेह, छत्तीस सहस्र प्रश्न श्रुतदेह ।
चिहूं अनुयोग रूप चिहुं चरणं, कहियै छै तास विवरणं ।। 10 ।।

गीतक छंद

वर प्रथम जे द्रव्यानुयोगज, द्वितीय अङ्गादिक विषै ।
फुन चरण नै करणानुयोगज, प्रथम अङ्गादिक अखै ।।11।।
गणितानुयोगज तेह, चंदपण्णत्ति प्रमुख विषै वही ।
फुन तुर्य धर्मकथानुयोगज, सूत्र ज्ञातादिक सहि ।।12।।
अनुयोग ते बाख्यान ए चिहुं, पंचमांग विषै कह्या ।
पद च्यार जय-कुंजर तणै वर, सषर ही शोभे रह्या ।।13।।
ज्ञान चरित्र रूप बे नयनं, जय-कुंजर थी चित्त लहै चयनं ।
द्रव्यास्तिक पर्यायास्तिकही, बे नय रूप दंत मूशलही ।।14।।
वर निश्चय नय फुन व्यवहारं, बे नय रूप सषर सुविचारं ।
उन्नत उच्च कुंभस्थल दोय, जय-कुंजर गज नै अवलोय ।।15।।
प्रारम्भ वचन तणी रचना जे, वर महा सुंडादंड बिराजे ।
निगमन वचन जिकौ संहरीयै, तेह अतुच्छ पुच्छ उच्चरीयै ।।16।।
कालादिक जे अष्ट प्रकार, प्रवचन समय तणा उपचार ।
आख्या ज्ञान तणा आचार, एह रूप परिकर परिवार[1] ।।17।।

---

1. कालादिरष्टविधो ज्ञानाचार आह च :
काले विणए बहुमाणे उवहाणे चेव तह अनिण्हवणे ।
वंजण अत्थ तदुभए अट्ठविहो नाणमायारो त्ति ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्सर्ग फुन अपवाद विचारं, सूत्र विषै विहुं आज्ञा सारं।
सम्यक् प्रकार उच्छलता सोय, वीर घंटा मोटी ए दोय ।।18।।
यशनु पडह तास पडछंद, तेणे करि पुर्‌या सुखकं।
एहवो जे दिशि नौ चक्रवाल, जय-कुंजर गज नैं सुविशाल।।19।।
स्यादवाद कहितां अवलोय, स्यादस्ति स्यात् नास्ति जोय।
ए जिनवाणी रूप प्रसिद्धो, निर्मल अंकुश करि वश्य कीधो।।20।।
विविध हेतु ते शस्त्र विख्यात, रिपु दल अविरति नैं मिथ्यात।
तेह दलणनैं अर्थ समाज, प्रेर्‌यो महावीर महाराज ।।21।।
सेन्यापति छै तेह समान, गच्छनायक निज बुद्धि करि जान।
जय-कुंजर गज नैं सझ कीधौ, अथवा रचियौ तेण प्रसिद्धो ।।22।।
प्रवर जोध मुनि पीड रहीतं, आरोहणनैं अर्थं वदीतं।
बांछित वस्तु साधन समर्थं, नाड्यां अर्थं रूप ए अवितथं ।।23।।
अन्य वलि जीवाभिगमादि, विवरण विविध रूप संवादि।
दोरां ना जे लेश अभूल, तास मिलाप करी महाभूल ।।24।।
एहवूं जे वर महा उपगारी, हस्ति नु नायक हितकारी।
तास हुकम थी रचना चारु, सुधर्म स्वाम रची ए वारु ।।25।।
तास अनुसार अम्हे पिण एह, जोड़ रूप करीयै गुण गेह।
भिक्षु भारीमाल ऋषिराय प्रशादं, जय जश पभणै घर अह्लादं ।।26।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय एवं टालमीय ज्योतिष का तुलनात्मक अध्ययन

जगदीशसिंह सिसोदिया, शक्तिधर शर्मा, सज्जनसिंह लिश्क

विश्व के भिन्न-भिन्न देशों द्वारा ज्योतिष शास्त्र की उत्पत्ति के बारे में अपने अपने दावे प्रस्तुत किये जाते आ रहे हैं। भारतीय ज्योतिष शास्त्र को प्राचीन व मौलिक न मान कर उसे अन्य देशों से नकल किया हुआ शास्त्र माना जाता हैं जिनमें विशेष रूप से ग्रीक, चीन, अरब आदि देशों की नकल भारतीय ज्योतिष में अधिक मानी जाती है। इनमें भी सबसे अधिक प्रभाव भारतीय ज्योतिष पर टालमीय ज्योतिष (Tetrobiblos) का कई विदेशी शोधकर्त्ता बतला रहे हैं।

इस निबन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानों के निष्कर्षों एवं शोध कार्यों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि भारतीय ज्योतिष पर किसी भी विदेशी ज्योतिषशास्त्र का और विशेष कर टालमीय ज्योतिष का कोई प्रभाव नहीं है और यह विश्व का प्राचीनतम एवं मौलिक भारतीय शास्त्र है जो अपने आप में विश्व के अन्य देशों को अद्‌भुत देन है जिसको कि उन्होंने भारत से सीख कर उसे आगे बढ़ाया और धीरे-धीरे इस शास्त्र के उत्पत्तिदाता ही बन बैठे।

जब हम आकाश की ओर दृष्टि डालते हैं तो हमें कई तारे, ग्रह, नक्षत्र आदि दिखाई देते हैं। ये सभी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहते हैं। कई तारे टूटते हैं, कई पुच्छलतारे विलीन हो जाते हैं। सूर्य प्रतिदिन पूर्व दिशा में ही उदित होता है, ऋतुएँ क्रमानुसार आती हैं, सूर्य व चन्द्र ग्रहण होते रहते हैं। ये सब बातें क्यों, कैसे व कब होती हैं इसका उत्तर मनुष्य अपने मानव स्वभाव के कारण जानना चाहता है। इसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानव-स्वभाव के कारण ही मनुष्य ने अपनी जिज्ञासा की पूर्ति हेतु कई आविष्कार किये, नई-नई खोजें की, नये-नये विषयों को जन्म दिया और ज्योतिष शास्त्र भी उनमें से एक है।

ज्योतिष शास्त्र क्या है व इसमें किन किन बातों का अध्ययन किया जाता है ? यह सबसे पहले जानना आवश्यक है। इसलिए इस विषय के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाएं नीचे दी जा रही हैं जिनकी सहायता से इस शास्त्र की विषय वस्तु को भली प्रकार समझा जा सकता है। वैसे तो ज्योतिष शास्त्र की कई विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से कई परिभाषाएं दी हैं पर उन सब में से जो अधिक महत्वपूर्ण एवं अधिक स्पष्ट हैं वे नीचे दी जा रही हैं :—

(1) "ज्योतिषां सूर्यादिग्रहाणां बोधकम् शास्त्रम्" अर्थात् सूर्यादि ग्रह और काल का बोध कराने वाले शास्त्र को ज्योतिष शास्त्र कहा जाता है ?[1]

(2) कुछ मनीषियों का अभिमत है कि "नभोमंडल में स्थित ज्योति सम्बन्धी विविध विषयक विद्या को ज्योतिर्विद्या कहते हैं। जिस शास्त्र में इस विद्या का सांगोपांग वर्णन रहता है, वह ज्योतिष शास्त्र है।"[2]

(3) "आदिकाल में नक्षत्रों के शुभाशुभ फलानुसार कार्यों का विवेचन तथा ऋतु, अयन, दिनमान, लग्न आदि के शुभाशुभानुसार विधायक कार्यों को करने का ज्ञान प्राप्त करना भी इस शास्त्र की परिभाषा में परिगणित हो गया।"[3]

(4) Astrology may also be defined as "the philosophy of discovering and analysing Past impulses and future actions of both[4] individuals and nations" in the light of planetary configuratio ns.

(5) It is a science of the sciences, the key to all knowledge ···Astrology can be defined as the science of correlation of astronomical facts with terrestrial events[5].

(6) "For Dante astrology was the noblest of the sciences" writes H. Flanders Dunbar.[6]

---

1. शास्त्री, नेमीचन्द्र; भारतीय ज्योतिष, 1973 संस्करण पृ. 3
2. Ibid. p. 3
3. Ibid. p. 4
4. Raman, B.V. Astrology and Modern Thought. 1972 p. 37
5. Ibid, p. 37
6. Ibid p. 41

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(7) Dr. Ralph Waldo Emerson wrote "Astrology is Astronomy brought to earth and applied to the affairs of men."[7]

(8) 'The purpose of living is to discover the purpose of living. Our ancestors taught us that Astrology was one of the keys to the solution of this enigma.[8]

(9) पाणिनि ने ज्योतिष को वेदों की आंखें माना है।

इस प्रकार अलग-अलग विद्वानों ने ज्योतिषशास्त्र की अलग-अलग परिभाषाएं दी हैं। सब का सामान्य अर्थ यह है कि ग्रहों, नक्षत्रों आदि का प्रभाव मनुष्य या देशों पर कैसे व क्यों पड़ता है, इसका उत्तर जिस शास्त्र से सही रूप से मिलता है उसे ज्योतिषशास्त्र कहा जाता है।

जब हमें ज्योतिष शास्त्र की परिभाषा का ज्ञान हो जाता है तो यह जानना चाहते हैं कि इस शास्त्र की उत्पत्ति कहां हुई ? किसी भी शास्त्र की उत्पत्ति जानना सबसे कठिन कार्य होता है क्योंकि सभी देश अपना.अपना दावा अपने-अपने ढंग से उत्पत्ति दाता बनने हेतु करते हैं। यही बात ज्योतिषशास्त्र के विषय में भी है। यहां हम निम्न पृष्ठों में इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों व शोधकर्त्ताओं के विचारों का विस्तृत विवेचन कर यह बताने का प्रयास कर रहे हैं कि वास्तव में ज्योतिषशास्त्र की उत्पत्ति किस देश में हुई ?

(1) पाश्चात्य देशों के कुछ विद्वान् क्लूडियस टालमी (Claudius Ptolemy) को, जो कि मिश्र के पेलुसियम (Pelusium) नगर में ईसवी सन् 70 में पैदा हुआ था, ज्योतिष का पिता मानते है।

जब हम इस बात की सत्यता का पता लगाने के लिए गहराई में जाते हैं तो ज्ञात होता है कि टालमी से बहुत पहले ही ज्योतिषशास्त्र प्रचलित था। जैसा कि सर आइजक न्यूटन ने लिखा है कि "पेटोसिरिस, जो मिश्र का निवासी था, ने साइस (Sais) के राजा निसेप्सस (Nicepsos) को ज्योतिष का ज्ञान दिया और वही ज्योतिष का उत्पत्तिदाता है।[10]

जब हम पेटोसिरिस को ज्योतिष शास्त्र का उत्पत्तिदाता मानने के बारे में विचार करते हैं तो इस बात को भी नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता कि फोइनी-

---

7. Krishnamurti, K. S., Stellar Astrological Reader No 1, 1974; p. IX.
8. Ibid, p. IX
9. Tucker, William. J., (Ptolemaic Astrology, 1974, p. IX
10. Ibid, p. X

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सियन्स (Phoenicians) तो इससे भी बहुत पहले ज्योतिषी के रूप में प्रसिद्धि पा चुके थे ।[11]

उन्होंने अपना ज्ञान मिश्र निवासियों से नहीं बल्कि चाल्डियन्स और सिरयाइयों से प्राप्त किया था । इसी समय परसियन्स ने भी ज्योतिष के ज्ञान में अच्छी प्रसिद्धि पाई पर उन्होंने भी यह ज्ञान चाल्डियन्स (Chaldeans) से ही प्राप्त किया था । [12]

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि टालमी से पूर्व कई ज्योतिषी हो चुके थे व वास्तविकता यह है कि उसने अपना ज्योतिष सम्बन्धी कार्य वहीं से शुरू किया जहां हिपार्कस (Hipparchus) ने समाप्त कर दिया था ।[13]

इस पर भी यदि कुछ विद्वान उसे प्रथम ज्योतिषी मानना चाहते हैं तो उनका सिर्फ एक तर्क हो सकता है कि उसने अपने ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान को व्यवस्थित रूप से अपनी ज्योतिषशास्त्रीय पुस्तक टेट्रोबिब्लाज (Tetrobiblos) व खगोल शास्त्रीय पुस्तक अलमागेस्ट (Almagest) व दी ग्रेट कन्सट्रक्शन (The Great Construction) में लिख कर भावी पीढ़ी को उपलब्ध कराया व साथ ही साथ उसने अपने ज्ञान को वैज्ञानिकता की कसौटी पर कसते हुए कुछ नये सिद्धांत भी बताये ।[14]

पर सिर्फ इसी देन के कारण उसे ज्योतिष का पिता या प्रथम ज्योतिषी मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता है । इसलिए यह बात सही नहीं है कि टालमी ज्योतिष का पिता या प्रथम ज्योतिषी या ज्योतिषशास्त्र का उत्पत्तिदाता था ।

कुछ विद्वान् जिनमें फ्रांस के खगोलशास्त्री बिओट (Biot) व हिटने (Whitney) मुख्य हैं, यह मानते हैं कि ज्योतिषशास्त्र की उत्पत्ति चीन व अरब में हुई है ।

जब हम चीन के साहित्य का अध्ययन करते हैं तो ज्ञात होता है कि उनके साहित्य में नक्षत्र पहले 24 ही थे और बाद में करीब 1100 B.C. में 28 नक्षत्र बने और वे भी कहीं क्रमवार व ऋतुओं से सम्बन्धित नहीं हैं व उनकी सारणियाँ भी भिन्न हैं । जबकि भारतीय साहित्य में करीब 1400 B.C. में 27 नक्षत्र माने जाते थे और वे क्रमवार व ऋतुओं से जुड़े हुए थे जैसे आर्द्रा वर्षा ऋतु में ही आता है ।[15]

---

11. Ibid, p. XI
12. Tucker, William J., Ptolemaic Astrology, 1974, p. XII
13. Ibid, p. XV
14. Ibid, p. XVI
15. Kane, P.V., History of Dharm Sastra, Vol-V. Pt. I, 1958, p. 508.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिओट के इस विचार का कि भारतीयों ने नक्षत्र पद्धति चीन से सीखी है, श्री सज्जन सिंह लिश्क व श्री शक्तिधर शर्मा ने अपने लेख 'हिन्दू नक्षत्र, (Hindu Nakshatras) में कई प्रमाण देकर खंडन किया है व यह सिद्ध किया है कि भारतीय नक्षत्र प्रणाली प्राचीन व मौलिक है। उस पर चीन या अन्य किसी देश का प्रभाव नहीं है।[16]

जहाँ तक अरब वालों का प्रश्न है वे तो स्वयं मानते हैं कि उन्होंने नक्षत्रों का ज्ञान भारतीय सिद्धान्तों से प्राप्त किया है। साथ ही साथ वे यह भी मानते हैं कि भारतीय 1500 B.C. से पहले ही नक्षत्रों के बारे में जानते थे व नक्षत्रों के आधार पर (मघा, फाल्गुनी, चित्रा आदि) माह सिर्फ भारत में ही थे न कि ग्रीस, रोम, चीन या अरब में।[17]

यहां यह बात भी लिखनी अप्रासंगिक नहीं होगी कि अभी जो देश जैसे इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, रूस व अमेरिका, जो कि विज्ञान, तकनीकी व उद्योगों में सबसे अग्रणी हैं, जो 1400 वर्ष तक टालमी की पुस्तक अल्मागेस्ट (Almagest) को ज्योतिषीय बाइबल मानते रहे, दशमलव पद्धति व O (शून्य) से अनभिज्ञ थे जब तक कि अरब वासियों ने, जो कि भारत से सीख कर गये थे, उन्हें इनका ज्ञान नहीं दिया।[18]

इस प्रकार यह कहना भी उचित नहीं है कि ज्योतिष की उत्पत्ति चीन या अरब आदि देशों में हुई है।

(3) कई विद्वान् यह मानते हैं कि ज्योतिष की उत्पत्ति भारत में हुई है। जब हम इस तथ्य पर गहराई से अध्ययन कर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है क कुछ विद्वान् इस तथ्य को गलत मानते हैं व कुछ सही।

जो विद्वान् इस तथ्य को गलत मानते हैं उनमें बेबर, हिटने, थीबों आदि मुख्य हैं। उनका कहना है कि भारतीयों ने ज्योतिष का ज्ञान ग्रीस, बेबीलोन, चीन व मिश्र आदि देशों से प्राप्त किया है।

जब हम इन विद्वानों के इस तर्क पर विचार करते हैं तो निम्न बातें नजर अन्दाज नहीं की जा सकती हैं :—

(i) संस्कृत साहित्य, जो प्राचीन भारत में था, वह बहुत हद तक नष्ट कर दिया गया था जिससे वह मिल नहीं पाया। जैसाकि स्वयं टालमी ने अलमोगेस्ट

---

16. Raman, B.V., Astrological Magazine, August 1975 p.p. 619-622
17. Kane, P.V., (1958) op.cit. p. 480.
18 Kane, P.V., (1958) op. cit. p. 482

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में स्वीकार किया है। अभी जो साहित्य उपलब्ध है वह भी उसका बहुत ही कम भाग है।[19]

(ii) जो भी साहित्य उपलब्ध है वह भी धार्मिक ग्रंथों में ही उपलब्ध है, ज्योतिष की दृष्टि से अलग नहीं है।

(iii) जो भी उपलब्ध सामग्री है उसे भी उपयुक्त महत्व नहीं दिया गया है।

(iv) जो साहित्य है वह यदि किसी दूसरे देश के साहित्य से मिलता है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी नकल की गई है। उसका अलग-अलग परिस्थितियों में भी आविष्कार हो सकता है।[20]

इस प्रकार पर्याप्त उपलब्ध साहित्य के अभाव में या दूसरे देश के समान साहित्य उपलब्ध होने से बेबर, हिटले व थीबौ का यह कथन गलत साबित होता है कि भारतीयों ने ज्योतिष का ज्ञान अन्य देशों से सीखा है।

इतना ही नहीं कई विद्वानों ने ज्योतिष की उत्पत्ति भारत में ही हुई मानी है और उन्होंने निम्न विचार इसकी पुष्टि में व्यक्त किये हैं :

(v) अलबरूनी ने लिखा है कि "ज्योतिषशास्त्र में हिन्दू लोग संसार की सभी जातियों से बढ़ कर हैं। मैंने अनेक भाषाओं के अंकों के नाम सीखे हैं, पर किसी जाति में भी हजार से आगे की संख्या के लिए मुझे कोई नाम नहीं मिला। हिन्दुओं में अठारह अंकों तक की संख्या के लिए नाम हैं, जिनमें अन्तिम संख्या का नाम परार्द्ध बताया गया है।[21]

(vi) प्रो० मैक्समूलर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि भारतीय आकाश-मण्डल और नक्षत्र मण्डल आदि के बारे में, अन्य देशों के ऋणी नहीं हैं। मूल आविष्कर्ता वे ही इन वस्तुओं के हैं।[22]

(vii) फ्रान्सीसी पर्यटक फ्राक्वीस वर्नियर ने लिखा है कि "भारतीय अपनी गणना द्वारा चन्द्र और सूर्य ग्रहण की बिल्कुल ठीक भविष्यवाणी करते हैं। इनका ज्योतिषज्ञान प्राचीन और मौलिक है।[23]

(viii) फ्रान्सीसी यात्री टरवीनियर ने कहा है कि भारतीय ज्योतिषज्ञान में प्राचीनकाल से ही अतीव निपुण हैं।[24]

(ix) कॉन्ट ऑर्मस्टर्जन ने लिखा है कि "वेली द्वारा किये गये गणित से यह

---

19. Neugebauer, pro, Exact Sciences in Antiqtity, 1951, p. 56
20. Kane, P.V., 1958) op. cit, p. 480
21. Shastri, N.C. (1973) pp. 11-12
22, Ibid pp. 11-12
23. Ibid, pp. 11-12
24. Ibid, pp. 11-12

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतीत होता है कि ईसवी सन् से 3000 वर्ष पूर्व में ही भारतवासियों ने ज्योतिषशास्त्र और भूमितिशास्त्र में अच्छी पारदर्शिता प्राप्त कर ली थी।[25]

(x) कर्नल टॉड ने अपने राजस्थान नामक ग्रंथ में लिखा हैं कि हम उन ज्योतिषियों को कहाँ पा सकते हैं, जिनका ग्रहमण्डल सम्बन्धी ज्ञान अब भी यूरुप में आश्चर्य उत्पन्न कर रहा है।[26]

(xi) विख्यात चीनी विद्वान् लियाँग चिचाव के शब्दों में "वर्तमान सभ्य जातियों ने जब हाथ-पैर हिलाना भी प्रारम्भ नहीं किया था तभी हम दोनों भाइयों (चीन व भारत) ने मानव सम्बन्धी समस्याओं को ज्योतिष जैसे विज्ञान द्वारा सुलझाना आरम्भ कर दिया था।[27]

(xii) प्रो० कोलब्रुक ने लिखा है कि "भारत को ही सर्वप्रथम चान्द्रनक्षत्रों का ज्ञान था। चीन और अरब के ज्योतिष का विकास भारत में ही हुआ है। उनका क्रान्ति मण्डल हिन्दुओं का ही है। निस्सन्देह उन्हीं से अरब वालों ने इसे लिया था।[28]

(xiii) डी. मार्गन ने स्वीकार किया है कि "भारतीयों का गणित और ज्योतिष, यूनान के किसी भी गणित या ज्योतिष के सिद्धान्त की अपेक्षा महान् है। इनके तत्व प्राचीन और मौलिक हैं।[29]

(xiv) डा० राबर्टसन का कथन है कि "12 राशियों का ज्ञान सबसे पहले भारतवासियों को ही हुआ था। भारत ने प्राचीन काल में ज्योतिर्विद्या में अच्छी उन्नति की थी।[30]

(xv) मिस्टर मारिया ग्राह्य की सम्मति है कि "समस्त मानवीय परिष्कृत विज्ञानों में ज्योतिष मनुष्य को ऊंचा उठा देता है। इसके प्रारम्भिक विकास का इतिहास संसार की मानवता के उत्थान का इतिहास है। भारत में इसके आदिम अस्तित्व के बहुत से प्रमाण मौजूद हैं।[31]

(xvi) श्री लोकमान्य तिलक ने 'ओरायन' में बताया है कि भारत का नक्षत्र ज्ञान, जिसका कि वेदों में वर्णन आता है, ईसवी सन् से कम से कम 5000 वर्ष पहले का है।[32]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि भारतीय ज्योतिषशास्त्र का उद्भव स्थान भारत

---

25. Ibid pp. 11-12
26. Ibid, pp. 11-12
27. Ibid, pp. 11-12
28. Ibid, pp. 11-12
29. Ibid, pp. 11-12
30. Ibid, pp. 11-12
31. Ibid, pp. 11-12
32. Ibid, pp. 11-12

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही है। इसने किसी देश से सीख कर यहाँ प्रचार नहीं किया। इसलिए बेबर, ह्विटले व थीबो का यह कहना गलत है कि भारतीयों ने अन्य देशों से ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त किया है। इस प्रकार निस्सन्देह ज्योतिष शास्त्र की उत्पत्ति भारत में हुई है और यह विश्व को भारत की एक मौलिक देन है।

जबकि यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि भारतीय ज्योतिष शास्त्र की उत्पति भारत में ही हुई है तो अब यह भी ज्ञान करना जरूरी है कि भारतीय ज्योतिष के कितने अंग हैं व उसमें किन-किन बातों का समावेश है ?

वेदों के छः अंग माने गये हैं। उनमें शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द व ज्योतिष हैं। भारतीय ज्योतिष के मुख्य तीन भाग माने जाते हैं जो सिद्धान्त होरा और संहिता कहलाते हैं। आजकल तीन को बजाय पांच भाग भी माने जाने लगे हैं, भागों में प्रश्न व शकुन और उपरोक्त तीनों भाग भी जोड़ दिये गये हैं। इन पांचों भागों में ज्योतिषशास्त्र की सभी मुख्य-मुख्य बातें अन्तर्भुक्त हो जाती हैं।

जब हमें भारतीय ज्योतिष के भागों का ज्ञान हो जाता है तो हमें यह ज्ञात करना भी जरूरी है कि भारतीय ज्योतिष अन्य देशों के ज्योतिष से किस प्रकार भिन्न व मौलिक है ताकि जो विद्वान् यह कहते हैं कि भारतीय ज्योतिष पाश्चात्य ज्योतिष से सीखकर लाया गया है व उसकी नकल है, उसका सही मूल्यांकन हो सके।

इस बात पर हम जब विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि अनेक विद्वान् यह मानते हैं कि भारतीय ज्योतिष पर टॉलमीय ज्योतिष का अत्यधिक प्रभाव है।

इसलिए हम भारतीय व टॉलमीय ज्योतिष की मुख्य-मुख्य बातों की तुलना अगले पृष्ठों में कर रहे हैं ताकि वास्तविकता का ज्ञान हो सके।

सर्व प्रथम हम भारत व टालमीय ज्योतिष के आधार पर उनके वर्षमान की तुलना करते हैं जिससे यह ज्ञात हो सके कि इन दोनों में कितनी भिन्नता है व कौन सा प्राचीन है। इसके लिए देखिए सारिणी नं—1

इस सारणी से ज्ञात होता है कि इन सब सिद्धान्तों के वर्षमान में सबसे कम वर्षमान रोमक सिद्धान्त का है। यह वर्षमान ग्रीक ज्योतिषी हिपार्कस के वर्षमान के समान है। टालमी ने हिपार्कस को आधार मानकर ही अपना वर्षमान निर्धारित किया है। यही कारण है कि उसका वर्षमान उपरोक्त सभी सिद्धान्तों के वर्षमान से कम है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारणी नं० 1[33]

क्रम संख्या	सिद्धान्त का नाम	वर्षमान					विशेष विवरण
		दिन	घटी	पल	विपल	प्रति विपल	
1.	पितामह सिद्धान्त	365	21	25	—	—	
2.	वासिष्ठ सिद्धान्त	366	—	—	—	—	
3.	पुलिश सिद्धान्त	365	15	30	—	—	
4.	सूर्य सिद्धान्त	365	15	31	30	—	
5.	रोमक सिद्धान्त	365	14	48	0	0	
6.	आधुनिक सूर्य, वसिष्ठ, शाकल्य रोमक और सोम सिद्धान्त	365	15	31	31	24	
7.	द्वितीय आर्य सिद्धान्त	365	15	31	17	6	
8.	राज मृगाङ्क, करणकुलूहल आदि सिद्धान्त	365	15	31	17	$17\frac{1}{3}$	
9.	टालमीय सिद्धान्त	365	15	24	31	30	

उपरोक्त सारणी से यह स्पष्ट है कि यदि भारतीयों ने स्वतंत्र रूप से स्वयं वर्षमान नहीं बनाये होते तो भारत के वर्षमान भी टालमी के वर्षमान से मिलते-जुलते होते व अधिक अन्तर नहीं आता पर ऐसा हुआ नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि भारतीय सिद्धान्त टालमी के सिद्धान्त से प्रभावित नहीं हैं एवं उनसे प्राचीन व मौलिक हैं।

(2) इतना ही नहीं जब हम कलियुगारम्भ कालीन और शाके 421 के आधुनिक यूरोपियन मान (केरोपन्तीय ग्रह साधन कोष्ठक) द्वारा लाये हुए टालमी कालीन (शाके 70, सन् 148 ई.) उच्च और पातों की तुलना करते हैं तो निम्न अन्तर दिखाई देता है (देखिए सारणी 2)

उपरोक्त सारणी से ज्ञात होता है कि टालमी का शुक्रोच्च बहुत ही अशुद्ध है और उसके अन्य उच्चों में भी अधिक अशुद्धि है। पात में भी काफी अशुद्धियां हैं। इतना ही नहीं टालमी का सूर्योच्च 65 अंश 30 कला है और टालमी कालीन (सन् 150 ई. के लगभग) वास्तविक सायन सूर्योच्च 71 अंश है। 65 अंश 30 कला अन्य किसी भी रीति से नहीं आता है। इससे यह सिद्ध है कि इन सिद्धान्तों में कोई

33. भारखण्डी, शिवनाथ, भारतीय ज्योतिष, 1975 पृ. 220, 279 (मूल लेखक श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित हैं।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"टालमी कालीन (शक 70) उच्च और पात सारणी"

सारणी नम्बर 2.[34]

ग्रह	उच्च								पात							
	केरोपन्तीय सायन			टालमी के स्थिति			केरो से		केरोपन्तीय सायन			टालमी के स्थिति			केरो से	
	रा.	अं.	क.	रा.	अं.	क.	अं.	क.	रा.	अं.	क.	रा.	अं.	क.	अं.	क.
सूर्य	2	11	5	2	5	30	—5	35	—	—	—	—	—	—	—	—
मंगल	4	1	39	3	25	30	— 6	9	1	5	29	0	25	30	—9	59
बुध	7	18	32	6	10	0	—38	32	0	26	5	0	10	0	—16	5
गुरु	5	15	7	5	11	0	—4	7	2	22		1	21	0	—31	1
शुक्र	9	6	18	1	25	0	−231	18	2	0	39	1	25	0	—5	39
शनि	7	28	45	7	:3	0	—5	45	3	7	28	6	30	30	+85	32

34. झारखण्डी, शिवनाथ, भारतीय ज्योतिष, 1975, पे. नं, 284

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नक्षत्र प्रदक्षिण काल (एक भगण) सारणी नम्बर 3.

ग्रह	वर्तमान सूर्यसिद्धान्त				ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त				टालमी सिद्धान्त				आधुनिक यूरोपीयल सिद्धान्त				विशेष विवरण
	दिन	घडी	पल	विपल	दिन	घडी	पल	विपल	दिन	घडी	पल	विपल	दिन	घडी	पल	विपन	
सूर्य	365	15	31	31.4	365	15	30	22.5	365	15	24	31.5	365	15	22	56.87	
चन्द्र	27	19	18	1.6	27	19	18	0.25	27	19	18	0.2	27	19	17	58.866	
चन्द्रोच्च	3232	5	37	13.6	3232	44	2	45	3232	24	40	34	3232	34	33	14.088	
राहु	6794	23	59	23.5	6792	15	14	14.7	6799	58	36	38.5	6798	16	44	24.00	
बुध	87	58	10	55.7	87	58	11	43.7	87	58	11	47.2	87	58	9	24.998	
शुक्र	224	41	54	50.6	224	41	52	34.7	224	42	9	52	224	42	2	47.486	
मंगल	686	59	50	5.87	686	52	52	33.7	686	58	49	50.2	686	58	46	2.518	
गुरु	4332	19	14	20.9	4332	14	24	19.2	4332	45	22	56.2	4332	35	5	17.49	
शनि	10765	46	23	4.1	10765	48	54	51.2	10758	44	30	37.2	10759	13	10	57.49	

35. झारखण्डी, शिवनाथ, भारतीय ज्योतिष. 1975 पेज नम्बर 279.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समानता नहीं है और साथ ही साथ ये टालमी से नहीं लिए गये है वरन् ये भारतीयों की स्वयं की खोज है।

(3) इसके अतिरिक्त जब हम नक्षत्र प्रदक्षिणाकाल की भारतीय एवं टालमी के सिद्धान्त से तुलना करते हैं तो निम्न अन्तर दिखाई देता है।[35] देखें सारिणी-3

उपरोक्त सारणी से ज्ञात होता है कि आधुनिक योरोपियन सिद्धान्त का वर्षमान हमारे सूर्य सिद्धान्त से लगभग 8 पल 34.5 विपल अधिक है और ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त का वर्षमान 7 पल 25.6 विपल अधिक है। टालमी का सिद्धान्त 1 पल 34.63 विपल अधिक है जो कम अशुद्ध है। यदि भारतीय टालमी के सिद्धान्त का अनुसरण करते तो इतना अन्तर नहीं आता व टालमी के सिद्धान्त से मिलता-जुलता होता पर वास्तव में ऐसा नहीं हुआ है। यहां यह कहना भी अनुपयुक्त नहीं होगा कि स्वयं टालमी ने हिपार्कस व भारतीय सिद्धान्तों को ध्यान में रख कर अपने वर्षमान व अन्य नक्षत्र प्रदक्षिणा काल निश्चित किये हैं जिससे कि वे कम अशुद्ध हैं। इससे सिद्ध होता है कि टालमी के ग्रंथ की ग्रहगति स्थिति हमारे सिद्धान्तों में नहीं ली गई है व भारतीय सिद्धान्त प्राचीन व मौलिक हैं।

(4) जब हम पृथ्वी से ग्रहों की दूरी ज्ञात करते हैं तो ग्रह माला के मध्य से ग्रहों के अन्तर भिन्न-भिन्न सिद्धान्त के अनुसार भिन्न-भिन्न आते हैं। यह बात निम्न सारणी से स्पष्ट है।[36]

मालामध्य से ग्रहों के अन्दर की सारणी (मन्दकर्ण)

(सारणी नम्बर 4)

ग्रह	सूर्य सिद्धान्त		टालमी सिद्धान्त	आधुनिक सिद्धान्त
	युग्मपदान्त में	ओजपदान्त में		
सूर्य/पृथ्वी				
बुध	·3694	.3667	.3750	.3871
शुक्र	·7278	.7222	.7194	.7233
मंगल	1·5139	1·5517	1·5190	1·5237
गुरु	5·1429	5	5·2174	5·2028
शनि०	9·2308	9	9·2308	9·5388

36. झारखण्डी, शिवनाथ, भारतीय ज्योतिषि, पृ० 422 (1975)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'ग्रहों के मध्यम विक्षेपमान सारणी'

(सारणी नम्बर 5)

ग्रह	वर्तमान सूर्य सिद्धान्त		प्रथमार्य सिद्धान्त		ब्रह्म सिद्धान्त शिरोमणी		द्वितीय आर्य सिद्धान्त		टालमी सिद्धान्त		आधुनिक सिद्धान्त		
	अंश	कला	अं०	क०	अं०	क०	अं०	क०	अं०	क०	अं०	क०	विकला
चन्द्र	4	30	4	30	4	30	4	30	5	0	5	8	47.9
मंगल	1	30	1	30	1	50	1	46	1	0	1	51	2
बुध	2	0	2	0	2	32	2	18	7	0	7	0	7.7
गुरू	1	0	1	0	1	16	1	14	1	30	1	18	41.4
शुक्र	2	0	2	0	2	16	2	16	3	38	3	23	34.0
शनि	2	0	1	0	2	10	2	10	2	30	2	29	39.5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब उपरोक्त सारणी में दिये गये मन्दकर्ण के भावों को ध्यान से देखते हैं तो ज्ञात होता है कि यहां जो सूर्य सिद्धान्तीय मान लिखे हैं वे बुध-शुक्र के मन्दकर्ण उनकी कक्षा की परिधि का अर्थात् 360 का उनकी नीचोच्चवृत परिधि में भाग देकर और बहिर्वर्ती ग्रहों के मन्दकर्ण नीचोच्चवृत परिधि का 360 अंश में भाग देकर लाये गये हैं। इन सब की आपस में तुलना करते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि इनमें एक रूपता नहीं है। अतः ये मान सब सिद्धान्तों में अपनी-अपनी मौलिकता के आधार पर दिये गये हैं न कि एक दूसरे की नकल करके। इससे यह सिद्ध होता है कि भारतीय सिद्धान्तों में टालमी के सिद्धान्तों की नकल नहीं की गई है।

(5) इसी तरह जब हम ग्रह विक्षेप के बारे में अध्ययन करते हैं तो ग्रहों के मध्यम विक्षेपमान अर्थात् क्रान्तिवृत से उनकी कक्षाओं के दूरत्व कुछ सिद्धांन्तों में मध्यमाधिकार में ही दिये गये हैं। इनकी तुलना सारणी सं० 5 से की जा रही है।[37]

सारणी सं० 5 के मानों से ज्ञात होता है कि टालमी के मानों व वर्तमान सूर्य सिद्धान्त के मानों व आधुनिक सिद्धान्त के मानों में भिन्नता है। यदि भारतीयों ने टालमी से ये मान लिये होते तो उनमें इतनी भिन्नता, विशेषकर बुध व शुक्र के मानों में, नहीं होती। इससे यही सिद्ध होता है कि ये मान भारतीयों ने स्वयं अपने अनुभव व खोज से निश्चित किये हैं।

(6) इसके अलावा जब हम परममन्दफल मानों की तुलना करते हैं तो विभिन्न सिद्धान्तों से निम्न परममन्दफल मान ज्ञात होते हैं:—([38])

"परममन्दफल मान सारणी'

(सारणी नं. 6)

ग्रह	प्रथम आर्य सिद्धान्त			टालमी सिद्धान्त		आधुनिक सिद्धान्त			विशेष विवरण
	अंश	कला	विकला	अंश	कला	अं.	क.	वि.	
सूर्य	2	8	55	2	23	1	55	27	
चन्द्र	5	0	48	5	1	6	17	12	
मंगल	10	1	36	11	32	10	41	33	
बुध	5	0	48	2	52	23	40	43	
गुरु	5	0	48	5	16	5	31	14	
शुक्र	2	51	53	2	23	0	47	11	
शनि	6	26	45	6	32	6	26	12	

37. झारखण्डी, शिवनाथ, भारतीय ज्योतिष, 1975, पेज 428

38. झारखण्डी, शिवनाथ, भारतीय ज्योतिष, 1975, पृ० 478

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस उपरोक्त सारिणी से ज्ञात होता है कि बुध-शुक्र के आधुनिक मानों से भारतीय ग्रंथों के मानों की तुलना करना ठीक नहीं है क्योंकि उनके आधुनिक मान सूर्य बिम्बस्थ द्रष्टा की दृष्टि और भारतीय भूस्थ द्रष्टा की दृष्टि से दिये गये हैं। पर यह बात निश्चित है कि टालमी के उपर्युक्त मन्दफल भारत के किसी भी सिद्धान्त से नहीं मिलते हैं। भारत के किसी भी सिद्धान्त से टालमी का कोई सम्बन्ध नहीं है, इसके अनेक प्रमाणों में से एक यह भी है।[39]

भारतीय ज्योतिष व टालमी के ज्योतिष की जब हम तुलना करते हैं तो उपरोक्त तथ्यों में तो स्पष्ट है ही कि भारतीयों ने टालमी से कुछ भी नहीं लिया है पर टालमी ने अवश्य भारतीय सिद्धान्तों की मदद अपने सिद्धान्तों को बनाने में ली है। साथ ही साथ जब हम भारतीय ज्योतिष शास्त्र के साहित्य का वर्गीकरण करते हैं तो निम्न बातें और हमारे सम्मुख उपस्थित होती हैं—

(1) भारतीय ज्योतिष शास्त्र के साहित्य को तीन भागों में बांटा जा सकता है, जो निम्न हैं—

(अ) वैदिक साहित्य एवं ब्राह्मण—इसमें 800 B.C. के पूर्व का साहित्य है।

(ब) वेदांग, ज्योतिष, सूत्र, ग्रह, धर्मसूत्र, मनु, गर्ग, जैन साहित्य जैसे सूर्य प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति आदि जो 3 ई. स. तक का साहित्य है।

(स) सिद्धान्त, आर्यभट्ट, वराहमिहिर व ब्रह्मगुप्त एवं उसके बाद के विद्वान्।

इस वर्गीकरण से यह सिद्ध होता है कि वैदिक संहिता और ब्राह्मण व वेदांग ज्योतिष, जैन साहित्य आदि टालमी के कार्य काल से प्राचीन है। अतः उनमें जो तथ्य हैं वे टालमी से पहले के हैं। इसलिए टालमी उनसे मदद ले सकता है पर भारतीय उससे मदद नहीं ले सके।

इतना ही क्यों जेकोबी, दीक्षित व तिलक ने वैदिक काल 4000 B.C. व उससे पहले का माना है। विन्टरनीज (Winternitz) इसे 2500 B.C. से मानता है जबकि मैक्समूलर व अन्य पाश्चात्य शोधकर्त्ता वैदिक काल को 1500 से 800 B.C. तक मानते हैं। यदि हम तीसरा काल भी सही मानें तो भी यह काल टालमी के काल से (70 A.D. से 147 AD) बहुत प्राचीन है जिससे टालमी के सिद्धांतों का प्रभाव वैदिक काल के ज्योतिष पर किसी भी हालत में नहीं पड़ सकता है। इसलिए हम निःसंकोच कह सकते हैं कि भारतीय ज्योतिष टालमी के ज्योतिष से प्राचीन व मौलिक है। इस बात की पुष्टि बर्जेस ने सूर्य सिद्धांत के अंग्रेजी अनुवाद में की है कि "भारत का ज्योतिष टालमी के सिद्धांतों पर आश्रित नहीं है, किन्तु इसने ई० सन् के बहुत पहले ही इस विषय का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था।[40]

---

39. भारखण्डी, शिवनाथ, भारतीय ज्योतिष, 1975 पृ. 479
40. पञ्चसिद्धान्तिका की भूमिका : पृ. LIII—LV

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदर्भ ग्रंथ

(1) शास्त्री, नेमीचन्द (1973) भारतीय ज्योतिष, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।

(2) झारखण्डी, शिवनाथ, (1975) भारतीय ज्योतिष, मूल लेखक श्री शंकर लालकृष्ण दीक्षित।

(3) Tucker William, J. (1974) Ptolemaic Astrology.

(4) Raman B.V. (1972) Astrology and Modern Thought.

(5) Krishnamurti, K.S. (1974) Stellar Archeological Report No 1.

(6) Kane, P.V. (1958) History of Dharmasastra.

(7) Raman, B.V. Astrological magazine (Oct. 72)

(8) Ibid., (Aug.75)

(9) Neugebouer. Pro, (1951) Exact Sciences in Antiquity.

(10) The Journal of the Royal Astronomical Society of Canada, April 1960.

(11) सम्यक् ज्ञान, (द्वैमासिक पत्रिका) जुलाई-अगस्त 76

(12) ज्योतिष धारा (मासिक पत्रिका) जुलाई 76.

(13) सूर्य सिद्धांत विज्ञान भाष्य

———

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पालि प्राकृत कथाओं में कर्म एवं पुरुषार्थ का अन्तर्द्वन्द्व

डा० प्रेम सुमन जैन

श्रमण-परम्परा में दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन एवं उनके प्रचार के दृष्टान्तों व कथाओं के माध्यम को अपनाया गया है। बौद्ध धर्म के प्राचीन ग्रन्थों, त्रिपिटक आदि में तथा जैन आगमों में ऐसे कई दृष्टान्त व उदाहरण उपलब्ध हैं, जिनके द्वारा कर्म सिद्धान्त को स्पष्ट किया गया है। स्वयं भगवान् बुद्ध व महावीर ने अनेक प्रश्नोत्तरों द्वारा व्यक्ति के कर्म एवं उनके अच्छे-बुरे फल-विपाक को समझाने का प्रयत्न किया है।

पालि साहित्य

मज्झिमनिकाय में एक सन्दर्भ है कि शुभ नामक माणवक ने भगवान बुद्ध से एक बार पूछा था कि हे गौतम ! मनुष्य में हीनता और प्रणीतता (उत्तमता) दिखाई देती है, इसका क्या हेतु है ? बुद्ध ने उत्तर दिया था कि हे माणवक ! प्राणी कर्मों के अधीन है। कर्म ही प्राणियों को हीनता और उत्तमता में विभक्त करता है।[1]

---

* पूना विश्वविद्यालय, पूना में मार्च 77 में आयोजित सेमिनार में पठित निबन्ध।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनके कर्म शुभ हैं, वह सुगति में और जिसके कर्म अशुभ हैं वह दुर्गति में जन्म लेता है।[1] सदाचार से सुगति और दुराचार से दुर्गति प्राप्त होती है।[2] इस प्रकार प्राणी यदि कर्मों के स्वभाव एवं परिणामों को जान जाए तो वह दुष्कर्मों को छोड़कर सुकर्म करने लग जाए।[3] इस प्राचीन प्रसंग से स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म में विश्व की व्यवस्था में कर्म को प्रधान माना गया है।[4] प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों के प्रति उत्तर-दायी है। सदाचार का आचरण कर वह अपने पुरुषार्थ द्वारा शुभ कर्मों का अर्जन कर सकता है। व्यक्ति के पुरुषार्थ को महत्व देते हुए ही बुद्ध ने यह कहा है कि केवल मेरे उपदेशों के भरोसे मत रहना। स्वयं अप्रमादी होकर ध्यान करने से तथा धर्म का अभ्यास करने से ही लक्ष्य की प्राप्ति होगी।

पालि त्रिपिटक की कथाओं में भगवान बुद्ध के उपर्युक्त कर्म एवं पुरुषार्थ सम्बन्धी विचार यत्र-तत्र प्रतिबिम्बित हुए हैं। थेर एवं थेरीगाथा में पूर्व जन्मों के कर्मों को स्मरण कर सदाचरण में प्रवृत्त होने की बात कहीं गई हैं। थेरीगाथा में इसीदासी का पूर्व जन्म का वर्णन ध्यातव्य हैं।(गा॰ 400-447) धम्मपद में यही कहा गया है कि व्यक्ति आकाश, पर्वत, समुद्र आदि कहीं भी चला जाय, किन्तु अपने किये गए कर्मों के फल से नहीं बच सकता। यथा—

न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे
न पब्बतानं विवरं पविस्स ।
न विज्जति सो जगतिपदेसो
यत्थट्ठितो मुञ्चेय्य पापकम्मा ॥ 9-12 ॥

किन्तु इन कर्मफलों को जानकर निर्वाणप्राप्ति का सही मार्ग चुना जा सकता है। तृष्णा का क्षय कर व्यक्ति कर्मफल से मुक्त हो सकता है। तथागत तो केवल इतना मार्ग बतलाते हैं, पुरुषार्थ तो व्यक्ति को स्वयं करना पड़ता है।

"तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता"—(धम्म॰ 20-4)।

पालि कथाओं में जातक साहित्य का प्रमुख स्थान है। जातक कथाओं में बोधिसत्व की पूर्वजन्मों की कथाएं हैं। किन्तु उनमें अनेक शाश्वत नीति के उपदेश हैं, जो व्यक्ति को सदाचार की ओर प्रेरित करते हैं। कई जातक कथाएं व्यक्ति के कर्मफलों को अभिव्यक्त करती हैं।[5] माल से भरा हुआ जहाज समुद्र में डूब जाना किसी यक्षिणी के जाल में फंस जाना, अनेक तरह की शारीरिक यातनाएं सहना, दरिद्रता का दुख भोगना आदि अनेक आपत्तियाँ जातक कथाओं के पात्र कर्मों के विपाक के कारण भोगते हैं। किन्तु दूसरी ओर व्यक्ति के पुरुषार्थ को प्रेरित करने वाली कथाएं भी पाली साहित्य में बहुत हैं। वणिक् पुत्र की साहस भरी यात्राएं, संकटों में अडिग रहने की घटनाएं तथा परोपकार एवं करुणा से युक्त कार्यों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुष्ठान आदि कई कार्य पालि कथाओं के पात्र करते हुए दिखाई देते हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि बौद्ध धर्म में कर्म एवं पुरुषार्थ को जिस रूप में प्रारम्भ में स्वीकार किया गया था उसका अंकन बाद की पालि कथाओं में भी हुआ है। यद्यपि यहाँ धार्मिक पुरुषार्थ के स्थान पर लौकिक और नैतिक पुरुषार्थ को अधिक महत्त्व दिया गया है।

जैन आगम साहित्य

जैन दर्शन में कर्म स्वतन्त्र तत्व के रूप में स्वीकृत है। कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध हैं। वे प्राणियों की योग और कषाय की प्रवृत्तियों द्वारा आत्मा के साथ बंध जाते हैं तथा यथा-समय जीव को अच्छा-बुरा फल प्रदान करते हैं। जैन दर्शन के प्राचीन ग्रन्थों में कर्मसिद्धान्त का विस्तार से सूक्ष्म विवेचन हैं।[6] भगवती सूत्र में भगवान महावीर और गौतम के बीच हुए प्रश्नोत्तरों में कर्मसिद्धान्त को कहा गया है। प्रमाद और योग कर्म-बन्धन के कारण माने गए हैं।[7] ठाणांग एवं प्रज्ञापना आदि में कषायों के द्वारा कर्मबन्ध की बात कही गई है।[8] कषायप्राभृत आदि कर्मग्रन्थों में कर्मसिद्धान्त पर कई दृष्टियों से विचार किया गया है। उत्तरकालीन प्राकृत व संस्कृत साहित्य में जैन दर्शन के कर्म विषयक विभिन्न पहलुओं का विवेचन किया गया है।

प्राकृत साहित्य में प्राप्त इस विवेचन में कहा गया है कि विश्व की विचित्रता एवं प्राणियों की हीनता एवं उच्चता कर्मों के कारण ही होती है। व्यक्ति को अपने अच्छे-बुरे कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। जीव स्वयं के उपार्जित कर्मजाल में आबद्ध होता है। कृत कर्मों के भोगे बिना उसकी मुक्ति नहीं है। यथा—

"सयमेव कडेहिं गाहइ, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं।"

—सूत्रकृतांग 1. 2, 1 4

उत्तराध्ययन सूत्र में "**कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि**" (4/3) आदि के द्वारा इसी का समर्थन किया गया है। विशेषावश्यकभाष्य में यही बात दूसरे शब्दों में कही गई है कि जीव कर्म-ग्रहण करने में स्वतन्त्र है और उसका फल भोगने में परतंत्र। जैसे कोई व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ने में स्वतन्त्र हैं किन्तु प्रमादवश वृक्ष से गिर पड़ने में परतन्त्र हैं। यथा—

कम्मं चिणंति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परवसा होन्ति।
रुक्खं दु रुहइ सवसो, विगलसपक्खसो तत्तो॥ 1-3॥

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी यही कहा है कि जीव और कर्म पुद्गल एक-दूसरे में मिले हुए हैं। समय आने पर पृथक भी हो सकते हैं। किन्तु जब तक वे मिले हुए हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म सुख-दुख देता है और जीव को वह भोगना पड़ता है।[9] इस तरह यह निश्चित होता चला गया कि कर्म बलवान हैं। व्यक्ति को कर्मों के अनुसार ही चलना पड़ता है। श्रमण-परम्परा में व्यक्ति को ईश्वर के हस्तक्षेप व अनुकम्पा आदि से जहाँ बचाया गया वहाँ उसे कर्मों के हाथ में सौंप दिया गया।[10] कर्मों की भवितव्यता आदि के इसी सामर्थ्य के कारण होनहार, भाग्य, नियति आदि कर्मवाद के पर्यायवाची बन गए। इसी बात को लेकर भगवान बुद्ध एवं महावीर के साथ उस समय के कई दार्शनिकों का मतभेद भी हुआ। उनके बीच हुए प्रश्नोत्तरों का परिणाम यह हुआ कि श्रमण परम्परा में कर्मसिद्धान्त का सूक्ष्मता से विवेचन किया गया। होनहार अथवा नियति आदि से कर्मवाद की भिन्नता स्पष्ट की गयी। कर्म और पुरुषार्थ के अलग-अलग महत्व को समझा गया। व्यक्ति स्वातन्त्र्य एवं कर्म-विपाक के सम्बन्ध को अनेक उदाहरणों द्वारा जैन आगमों एवं परवर्ती साहित्य में स्पष्ट किया गया है।

प्राकृत साहित्य में कर्मों के विवेचन में यह कहा गया है कि कर्मों का विपाक दो तरह से होता है। कुछ कर्म अपने निश्चित समय पर व्यक्ति को अपने आप अच्छा-बुरा फल देते हैं। यह प्रक्रिया उनमें स्वाभाविक होती है। इसमें व्यक्ति का प्रयत्न कुछ नहीं कर सकता। किन्तु कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनका फल समय से पहले एवं मन्दता के साथ व्यक्ति के प्रयत्नों द्वारा भोगा जा सकता है। व्यक्ति का पुरुषार्थ ऐसे कर्मों के फल को बदल सकता है। अतः गणधरवाद में यह कहा गया है कि कभी जीव कर्मों के अधीन होता है और कभी कर्म जीव के अधीन। अतः कर्म और जीव के प्रयत्नों में संघर्ष चलता रहता है। यथा—

कत्थवि बलिओ जीवो, कत्थवि कम्माइ हुंति बलियाइं।
जीवस्स य कम्मस्सय, पुव्व विरुद्धाइं वैराइ ॥ 2-25॥

आचार्य समन्तभद्र ने भी यही मत प्रकट किया है कि बुद्धिपूर्वक कर्म न करने से जो कुछ प्राप्त होता है वह भाग्य (कर्म) के अधीन है और व्यक्ति के प्रयत्न से इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति होना पुरुषार्थ के अधीन है। कहीं पर दैव प्रधान होता है तो कहीं पुरुषार्थ।[11] आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने भी कार्य की उत्पत्ति में पूर्ण कर्म आदि के साथ पुरुषार्थ का भी समन्वय आवश्यक माना है।[12] भगवती सूत्र में गौतम के प्रश्न के उत्तर में भगवान महावीर ने यह पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि कर्म के स्वाभाविक उदय में नए पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु उदीरणा योग्य कर्म पुदगलों की सामर्थ्य को जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा कम कर सकता है। इन कर्मों की उदीरणा मन, वचन, काय के योग द्वारा होती है।[13] इसी से कर्मों का संबर व निर्जरा होती है जो मुक्ति का मार्ग है। अतः कर्मों की रज से आत्मा को निर्मल करने के लिए व्यक्ति का पुरुषार्थी होना, अप्रमादी होना बहुत आवश्यक है। इसी से जैन दर्शन में तप आदि की प्रधानता है। अप्रमाद की प्रतिष्ठा है। यथा—

"विहुणाहि रयं पुरे कडं, समयं गोयम ! मा पमायए—" (उत्तरा० 10/3)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन आगम साहित्य में प्रतिपादित कर्म और पुरुषार्थ सम्बन्धी चिन्तन का प्रभाव प्राकृत कथाओं में भी देखने को मिलता है। वैसे तो प्रायः प्रत्येक प्राकृत कथा में पूर्वजन्म, कर्मों का फल तथा मुक्ति प्राप्ति के लिए संयम वैराग्य आदि पुरुषार्थों का संकेत मिलता है। किन्तु कुछ कथाएं ऐसी भी हैं जो कर्म-सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करती हैं तो कुछ पुरुषार्थ का। भारतीय संस्कृति में चार पुरुषार्थों का विवेचन है-धर्म, अर्थ, काम, एवं मोक्ष। वस्तुतः प्राकृत कथाओं में इनमें से दो को ही पुरुषार्थ माना गया है, काम और मोक्ष को। शेष दो पुरुषार्थ इनकी प्राप्ति में सहायक हैं। धर्म पुरुषार्थ से मोक्ष सधता है तो अर्थ से काम पुरुषार्थ। अर्थात् लौकिक समृद्धि व सुख आदि। प्राकृत कथाओं में इन लौकिक और पारलौकिक दोनों पुरुषार्थों का वर्णन है, किन्तु उनका प्रभाव समाज पर भिन्न-भिन्न पड़ा है।

प्राकृत कथाओं में कर्म-सिद्धान्त को प्रतिपादन करने वाली कथाएं ज्ञाता-धर्मकथा में उपलब्ध हैं। मणिकुमार सेठ की कथा में कहा गया है कि पहले उसने एक सुन्दर वापी का निर्माण कराया। परोपकार एवं दानशीलता के अनेक कार्य किये। किन्तु एक बार जब उसके शरीर में सोलह प्रकार की व्याधियां हो गयी तो देश के प्रख्यात वैद्यों की चिकित्सा द्वारा भी मणिकुमार स्वस्थ नहीं हो सका। क्योंकि उसके असाता कर्मों का उदय था, इसलिए उसे रोगों का दुख भोगना ही था।[14] इसी ग्रन्थ में काली आर्या की एक कथा है, जिसमें अशुभ कर्मों के उदय के कारण उसकी दुष्प्रवृति में बुद्धि लग जाती है और वह साध्वी के आचरण में शिथिल हो जाती है।[15]

आगम ग्रन्थों में विपाकसूत्र कर्म सिद्धान्त के प्रतिपादन का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसमें 20 कथाएं हैं। प्रारम्भ की दस कथाएं अशुभ कर्मों के विपाक को एवं अंतिम दस कथाएं शुभ कर्मों के फल को प्रगट करती है।[16] मियापुत्र की कथा क्रूरता पूर्वक आचरण करने के फल को व्यक्त करती है तो सोरियदत्त की कथा मांसभक्षण के परिणाम को। इसी तरह की अन्य कथाएं विभिन्न कर्मों के परिपाक को स्पष्ट करती हैं। इन कथाओं का स्पष्ट उद्देश्य प्रतीत होता है कि लोग अशुभ कर्मों को छोड़कर शुभ कर्मों की ओर प्रवृत हों।

स्वतन्त्र प्राकृत कथा-ग्रन्थों में कर्मवाद की अनेक कथाएं हैं। तरंगवती में पूर्वजन्मों की कथा है। तरंगवती को कर्मों के कारण पति वियोग सहना पड़ता है।[17] वसुदेवहिण्डी में तो कर्मफल के अनेक प्रसंग हैं। चारूदत्त की दरिद्रता उसके पूर्वकृत कर्मों का फल मानी जाती है। इस ग्रन्थ में वसुभूति दरिद्र ब्राह्मण की कथा होनहार का उपयुक्त उदाहरण है। वसुभूति के यज्ञदत्ता नाम की पत्नी थी। पुत्र का नाम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोमशर्म तथा पुत्री का सोमशर्मा था। उनके रोहिणी नाम की एक गाय थी। दान में मिली हुई खेती करने के लिए थोड़ी-सी जमीन थी। एक बार अपनी दरिद्रता को दूर करने के लिए वसुभूति शहर जा रहा था तो उसने अपने पुत्र से कहा कि मैं साहूकारों से कुछ दान-दक्षिणा मांगकर शहर से लौटूंगा। तब तक तुम खेती की रक्षा करना। उसकी उपज और दान में मिले धन से मैं तेरी और तेरी बहिन की शादी कर दूंगा। तब तक अपनी गाय भी बछड़ा दे देगीं। इस तरह हमारे संकट के दिन दूर हो जायेंगे।

ब्राह्मण वसुभूति के शहर चले जाने पर उसका पुत्र सोमशर्म तो किसी नटी के संसर्ग से नट बन गया। अरक्षित खेती सूख गयी। सोमशर्मा पुत्री के किसी धूर्त से गर्भ रह गया और गाय का गर्भ किसी कारण से गिर गया। संयोग से ब्राह्मण को भी दक्षिणा नहीं मिली। लौटने पर जब उसने घर के समाचार जाने तो कह उठा कि हमारा भाग्य ही ऐसा है। [20] इस ग्रन्थ में इस तरहके अन्य कथानक भी हैं।

आचार्य हरिभद्र ने प्राकृत की अनेक कथाएं लिखी हैं। समराइच्चकहा और धूर्ताख्यान के अतिरिक्त उपदेशपद एवं दशवैकालिकचूर्णि में भी उनकी कई कथाएं कर्मवाद का प्रतिपादन करती हैं। उनमें कर्म विपाक अथवा दैवयोग से घटित होने वाले कई कथानक हैं, जिनके आगे मनुष्य की बुद्धि और शक्ति निरर्थक जान पड़ती है। [21] समराइच्चकहा दूसरे भव में सिंहकुमार की हत्या जब स्वयं उसका पुत्र आनन्द राजपद पाने के लिए करने लगता है तो सिंह कुमार सोचता है कि जैसे अनाज पक जाने पर किसान अपनी खेती काटता है वैसे ही जीव अपने किये हुए कर्मों का फल भोगता है। [22] उपदेशपद में 'पुरुषार्थ या दैव' नाम की एक कथा ही हरिभद्र ने प्रस्तुत की है। [23] इसमें कर्मफल की प्रधानता है।

कुवलयमालाकहा में उद्द्योतनसूरि ने कई प्रसंगों में कर्मों के फल भोगने की बात कही है। पांच कषायों के वशीभूत होकर जीने वाले व्यक्तियों को क्या क्या भोगना पड़ा इसका विस्तृत विवेचन लोभदेव आदि की कथाओं में इस ग्रन्थ में किया गया है। [24] राजा रत्नमुकुट की कथा में दीपशिखा और पतंगे का दृष्टान्त दिया गया है। राजा ने पतंगे को मृत्यु से बचाने के लिए बहुत प्रयत्न किये। अन्त में उसे एक संदूकची में बन्द भी कर दिया। किन्तु प्रातः काल तक उसे एक छिपकली खा ही गयी। राजा का प्रयत्न कर्म-फल के आगे व्यर्थ गया। उसने सोचा कि निपुण वैद्य रोगी की रोग से रक्षा तो कर सकते हैं किंतु पूर्वजन्मकृत कर्मों से जीव की रक्षा वे नहीं कर सकते। यथा-

वेज्जा करेंति किरियं ओसह-जीएहिं मंत-बल-जुत्ता।
णेय करेंति वराया ण कयं जं पुव्व-जन्मम्मि ॥...कुव० 140.25

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत कथाओं के कोशग्रन्थों में कर्मफल सम्बन्धी अनेक कथाएं प्राप्त हैं। आख्यानमणिकोश में बारह कथाएं इस प्रकार की हैं। कर्म अथवा भाग्य के सामर्थ्य के सम्बन्ध में अनेक सुभाषित इस ग्रन्थ में प्रयुक्त हुए हैं। ऋषिदत्ता आख्यान के प्रसंग में कहा गया है कि कर्मों के अनुसार ही व्यक्ति सुख-दुख पाता है। अतः किये हुए कर्मों (के परिणाम) का नाश नहीं होता।

जं जेण पावियव्वं सुहं व दुक्खं व कम्मनिम्मवियं।
तं सो तहेव पावइ कयस्स नासो जओ नत्थि ।।.....पृ०250, गा०151 ।।

प्राकृत कथा संग्रह में कर्म की प्रधानता वाली कथाएं हैं। समुद्रयात्रा के दौरान जब जहाज भग्न हो जाता है तब नायक सोचता है कि किसी को कभी भी दोष न देना चाहिए। सुख और दुख पूर्वार्जित कर्मों का ही फल होता है।[25] इसी तरह प्राकृत कथाओं में परीषह-जय की अनेक कथाएं उपलब्ध हैं। वहां भी तपश्चरण में होने वाले दुख को कर्मों का फल मानकर उन्हें समता पूर्वक सहन किया जाता है। अपभ्रंश के कथाग्रन्थों एवं कहाकोस में इस प्रकार की कई कथाएं हैं। सुकुमाल स्वामी की कथा पूर्व जन्मों के कर्म विपाक को स्पष्ट करने के लिए ही कही गयी है। होनहार कितनी बलवान है, यह इस कथा से स्पष्ट हो जाता है।[26]

पुरुषार्थ विवेचन :

कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी इन प्राकृतकथाओं के वर्णनों पर यदि पूर्णतः विश्वास किया गया होता और भवितव्यता को ही सब कुछ मान लिया गया होता तो लौकिक और पारलौकिक दोनों तरह के कोई प्रयत्न व पुरुषार्थ जैन धर्म के अनुयायिओं द्वारा नहीं किये जाते। इस दृष्टि से यह समाज सबसे अधिक निष्क्रिय दरिद्र और भाग्यवादी होता। किन्तु इतिहास साक्षी है कि ऐसा नहीं हुआ। अन्य विधाओं के जैन साहित्य को छोड़ भी दें तो यही प्राकृत कथाएं लौकिक और पारमार्थिक पुरुषार्थों का इतना वर्णन करती हैं कि विश्वास नहीं होता उनमें कभी भाग्यवाद या कर्मवाद का विवेचन हुआ होगा। कर्म और पुरुषार्थ के इस अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट करने के लिए प्राकृत कथाओं में प्राप्त कुछ पुरुषार्थ सम्बन्धी सन्दर्भ यहां प्रस्तुत हैं।

ज्ञाताधर्मकथा में उदकज्ञाता अध्ययन में सुबुद्धि मन्त्री की कथा है। इसमें उसने जितशत्रु राजा को एक खाई के दुर्गन्ध युक्त अपेय पानी को शुद्ध एवं पेय जल में बदल देने की बात कही। राजा ने कहा—यह नहीं हो सकता। तब मन्त्री ने कहा कि पुद्गलों में जीव के प्रयत्न और स्वाभाविक रूप से परिवर्तन होते रहते हैं।[27] अतः व्यक्ति के पुरुषार्थ से कर्म पुद्गलों को भी परिवर्तित किया जा सकता है। राजा ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। तब सुबुद्धि ने जल-शोधन की विशेष प्रक्रिया द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसी खाई के अशुद्ध जल को अमृत सदृश मधुर और पेय बनाकर दिखा दिया। तब राजा की समझ में आया कि व्यक्ति की सद्प्रवृत्तियों के पुरुषार्थ उसके जीवन को बदल सकते हैं। अन्त में राजा और मन्त्री दोनों जैन धर्म में दीक्षित हो गये।[28] इसी ग्रन्थ में समुद्रयात्रा आदि की कथाएं भी हैं। जिनसे ज्ञात होता है कि संकट के समय भी साहसी यात्री अपना पुरुषार्थ नहीं त्यागते थे। जहाज भग्न होने पर समुद्र पार करने का भी प्रयत्न करते थे। अनेक कठिनाईयों को पार कर भी वणिक्पुत्र सम्पत्ति का अर्जन करते थे।

उत्तराध्ययनटीका (नेमीचन्द्र) में एक कथा है, जिसमें राजकुमार मन्त्रीपुत्र और वणिक्पुत्र अपने अपने पुरुषार्थ का परीक्षण करके बतलाते हैं।[29] दशवैकालिक-चूर्णी में चार मित्रों की कथा में पुरुषार्थों की श्रेष्ठता सिद्ध की गयी है।[30] वसुदेव-हिण्डी में अर्थ और काम पुरुषार्थ की अनेक कथोपकथाएं हैं। आर्थोपार्जन पर ही लौकिक सुख आधारित है। अत : इस ग्रन्थ की एक कथा में चारुदत्त दरिद्रता को दूर करने के लिए अंतिमक्षण तक पुरुषार्थ करना नहीं छोड़ता। **'उच्छाहे सिरिवसति'** इस सिद्धान्त का पालन करता है।[31] समराईच्चकहा में लौकिक और पारमार्थिक पुरुषार्थ की अनेक कथाएं हैं।[32]

उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला में एक ओर जहाँ कर्मफल का प्रतिपादन किया है, वहाँ चंडसोम आदि की कथाओं द्वारा यह भी स्पष्ट कर दिया है कि पापी से पापी व्यक्ति भी यदि सद्गति में लग जाए तो वह सुख-समृद्धि के साथ जीवन के अन्तिम लक्ष्य को भी प्राप्त कर सकता है। मायादत्त की कथा में कहा गया है कि लोक में धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों में से जिसके एक भी नहीं है उसका जीवन जड़वत् है। अत: अर्थ का उपार्जन करो जिससे शेष पुरुषार्थों की सिद्धि हो (कुव. 58. 13-15)। सागरदत्त की कथा से ज्ञात होता है कि बाप-दादाओं की सम्पत्ति से परोपकार करना व्यर्थ है। जो अपने पुरुषार्थ से अर्जित धन का दान करता है वही प्रशंसा का पात्र है, बाकी सब चोर हैं—

जो देई धणं दुह-सय-समज्जियं अत्तणो भुय-बलेण।
सो किर पसंसणिज्जो इयरो चोरो विय वराओ॥ कुव० 103-23॥

इसी तरह इस ग्रन्थ में धनदेव की कथा है। वह अपने मित्र भद्रश्रेष्ठी को प्रेरणा देकर व्यापार करने के लिए रत्नदीप ले जाना चाहता है। भद्रश्रेष्ठी इसलिए वहाँ नहीं जाना चाहता क्योंकि वह सात बार जहाज भग्न हो जाने से निराश हो चुका था। तब धनदत्त उसे समझाता है कि "पुरुषार्थ-हीन होने से तो लक्ष्मी विष्णु" को भी छोड़ देती है और जो पुरुषार्थी होता है उसी पर वह दृष्टिपात करती हैं। अत: तुम पुन: साहस करो। व्यक्ति के लगातार प्रयत्न करने पर ही भाग्य को बदला जा सकता है।[33]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत के अन्य कथा-ग्रन्थों में भी इस प्रकार की पुरुषार्थ सम्बन्धी कथाए देखी जा सकती हैं। श्रीपाल कथा कर्म और पुरुषार्थ के अन्तर्द्वन्द का स्पष्ट उदाहरण है। मैना सुन्दरी अपने पुरुषार्थ के बल पर दरिद्र एवम् कोढ़ी पति को स्वस्थ कर पुनः सम्पत्तिशाली बना देती है। प्राकृत के ग्रन्थों में इस विषयक एक बहुत रोचक कथा प्राप्त है। राजा भोज के दरबार में एक भाग्यवादी एवम् पुरुषार्थी व्यक्ति उपस्थित हुआ। भाग्यवादी ने कहा कि सब कुछ भाग्य से होता है, पुरुषार्थ व्यर्थ है। पुरुषार्थी ने कहा—प्रयत्न करने से ही सब कुछ प्राप्त होता है, भाग्य के भरोसे बैठे रहने से नहीं। राजा ने कालिदास नामक मन्त्री को उनका विवाद निपटाने को कहा। कालिदास ने उन दोनों के हाथ बांधकर उन्हें एक अंधेरे कमरे में बन्द कर दिया और कहा कि आप लोग अपने अपने सिद्धान्त को अपनाकर बाहर आ जाना। भाग्यवादी निष्क्रिय होकर कमरके एक कोने में बैठा रहा। पुरुषार्थी तीन दिन तक कमरे से निकलने का द्वार खोजता रहा। अन्त में थक कर वह एक स्थान पर गिर पड़ा। जहाँ उसके हाथ थे वहाँ चूहे का बिल था। अतः उसके हाथ का बन्धन चूहे ने काट दिया। दूसरे दिन वह किसी प्रकार दरवाजा तोड़कर बाहर आ गया। बाद में वह भाग्यवादी को भी निकाल लाया। और कहने लगा कि उद्यम के फल को जानकर यावत्—जीवन उसे नहीं छोड़ना चाहिए। पुरुषार्थ फलदायी होता है।[34]

उज्जमस्स फलं नच्चा विउसदुगनायगे।
जावज्जीवं न छुड्डेज्जा उज्जमं फलदायगं॥

चिन्तनीय प्रश्न :

प्राकृत कथाओं में कर्म एवं पुरुषार्थ सम्बन्धी इन कुछ उदाहरणों से स्पष्ट है कि कर्मवाद अधिक सबल है। इसके प्रतिपादन के मूल में सम्भवतः यह प्रमुख कारण था कि ईश्वर जैसे सर्वशक्तिमान व्यक्तित्व के स्थानापन्न के रूप में कर्मवाद की स्थापना करना था। अतः उसे भी उतना ही अकाट्य और प्रभावशाली बनाया गया है। इसके पीछे जैन आचार्यों का यह भी उद्देश्य हो सकता है कि व्यक्ति कर्म को सब कुछ मानकर अपने कार्यों के प्रति मिथ्या अहंकार न करे। प्रयत्नों के उपरान्त यदि उसे सफलता न मिले तो वह कर्मफल को मानकर धैर्य धारण कर सके। दुःख की भयावह स्थितियों में वह घबड़ाये नहीं, अपितु अच्छे कर्मफल की आशा में उस स्थिति से उबर सके। साथ ही कर्मफल के प्रतिपादन में यह शिक्षा देना भी निहित रहा होगा कि व्यक्ति शुभकर्मों के अच्छे फल की ओर आकर्षित होकर सद्प्रवृत्तियों में पुरुषार्थ करे। इस तरह कर्मफल का प्रतिपादन एक ओर यदि जड़ और आलसी व्यक्तियों के लिए निष्क्रियता, भाग्यवाद. अन्धविश्वास आदि में प्रवृत होने का कारण है तो दूसरी ओर जागरूक व्यक्ति इससे पुरुषार्थ में प्रवृत होने की प्रेरणा भी ग्रहण कर सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधुनिक युग में कर्मवाद के सिद्धान्त के साथ कई प्रश्न चिन्ह जुड़े हुए हैं। यदि व्यक्ति का कर्म ही सब कुछ है, उसे उनका फल निश्चित ही भोगना पड़ेगा तो फिर वह सत्कार्यों में क्यों और कैसे प्रवृत हो सकता है ? अतः आज के व्यक्ति ने अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के कर्मफलों के प्रति उदासीन वृत्ति अपना ली है। भविष्य में मिलने वाले फल के प्रति उसका विश्वास नहीं रहा। इसीलिए वह वर्तमान में जीना चाहता है। वर्तमान को यथासम्भव सुखी बनाने के प्रयत्न में वह है। यदि सूक्ष्मता से देखें तो सम्भवतः यह प्रवृत्ति पालि-प्राकृत की कथाओं में बहुत पहले से प्रारम्भ हो गयी थी। लौकिक पुरुषार्थ वहां प्रमुखता को प्राप्त है।[34]

कर्म-सिद्धान्त के सम्बन्ध में दूसरा चिन्तन यह उभरा है कि कर्मों के फल अवश्य मिलते हैं। किंतु हजारों वर्षों में, जन्मों में नहीं, अपितु तुरन्त ही वर्तमान जीवन में ही व्यक्ति सुख-दुःख भोग लेता है।[35] उसकी मनोवृत्तियाँ ही उसे अच्छे-बुरे कार्यों में प्रवृत्त करती हैं, जिन पर वह अपनी चेतन शक्ति द्वारा नियन्त्रण करता रहता है। व्यक्ति के पुरुषार्थ के आगे अनन्त जन्मों की कर्मशृंखला कोई मायने नहीं रखती। अब दिनो दिन व्यक्ति की दृष्टि सूक्ष्म और वैज्ञानिक होती जा रही है। अतः वह किसी कार्य का केवल एक कारण स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। सुख:दुख अनेक कारणों के परिणाम हैं। कर्मफल उनमें से एक कारण हो सकता है। अतः अब कर्मवाद उतना भयावह नहीं रहा है और न आकर्षक ही, जितना वह प्राचीन समय में था।

वर्तमान युग के जीवन में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि एक व्यक्ति के कर्म केवल उसे ही प्रभावित नहीं करते। अपितु एक व्यक्ति के कर्मों का फल सामूहिक भोगना पड़ सकता है। जैसे किसी यान चालक की लापरवाही का परिणाम सभी यात्री भुगतते हैं। अथवा किसी जमाखोर के कारण अनेक उपभोक्ता दुःखी हो सकते हैं। इसी प्रकार सामूहिक कर्मों का फल भी व्यक्तिगत रूप से भोगना पड़ता है। देश में हरित क्रान्ति लाने वाले कुछ किसान हो सकते हैं, किन्तु उपज की समृद्धि का लाभ करोड़ों लोग उठाते है। अतः कर्म सिद्धान्त में अब व्यक्ति अकेला भोक्ता नहीं है। इसलिए बहुत आवश्यक हो गया है कि सामूहिक रूप से कर्मों में सुधार किया जाय। इन सब प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में पालि-प्राकृत साहित्य में प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त व पुरुषार्थ का विवेचन चिन्तनीय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदर्भ

1. "कम्मस्सका माणव सत्ता कम्पदायादा कम्मयोनी कम्मबन्धू—
कम्मपटिसरणा, कम्मं सत्ते विभजति यदिदं हीनपणीततायाति।"
—चूल-कम्मविभंगसुत्तन्त (मज्झिम. 3, 4, 5)

2. महाकम्म विभंगसुत्तन्त (म. नि. 3, 4, 6)

3. सालेय्यसुत्तन्त, वेरजकसुत्तन्त (म. नि. 1-5-1, 1-5-2)

4. दिट्ठसुत्त—इत्तिबुत्तक।

5. कम्मा विपाका वत्तन्ति विपाको कम्म सम्भवो।
कम्मापुनब्भवो होति एवं लोको पवत्ततीति॥ विभंग पृ. 4261

6. किंत्ति सुत्तन्त (म. नि. 3-1-3), इन्द्रियभावनासुत्तन्त (म. नि. 3-5-10)

7. द्रष्टव्य, मेहता, मोहनलाल, जातककालीन भारतीय संस्कृति

8. मेहता, मोहनलाल, जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग 4

9. भगवई, जैन विश्व भारती प्रकाशन, 1974, सूत्र 1, 2, 34

10. ठाणांग, 4-92 एवं प्रज्ञापना 23-1-290।

11. जीवा पुग्गलकाया अण्णोण्णागाढगहणपडिबद्धा।
काले विजुज्झाणा, सुहदुक्खं दिंति भुंजन्ति॥
—पंचास्तिकाय, गा. 67।

12. पाओदएण अत्थो हत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्स।
दूरादो वि सपुण्णस्स एदि अत्थो अयत्तेण॥ भगवती आराधना गा. 1731

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

13. आप्तमीमांसा, कारिका, 89-91 ।
14. कालो सहाव णियइ पुव्वकम्म पुरिसकारणेगंता ।
मिच्छत्तं तं चैव उ समासत्वो हुंति सम्मतं ।।—सन्मतितर्कप्रकरण 3-53
15. भगवती, 7-3-35
16. ज्ञाताधर्मकथा, 1-13
17. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि, महावीर युग की प्रतिनिधि कथाएं पृ. 53
18. जैन, जगदीशचन्द्र, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ. 94-95
19. द्रष्टव्य, तरगंलोला की कथा ।
20. वसुदेवहिडी पृ. 31
21. शास्त्री, नेमिचन्द्र, हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ. 212
22. जह वा लुणाइ सासाइ कासओ परिणयाइ कालेण ।
इय भूयाइ कयन्तो लुणाइ जायाइ जायाइं ।। 2-223
23. उपदेशपद, गाथा 353-356 ।
24. द्रष्टव्य, लेखक का ग्रंथ—'कुवलयमाला कथा का सांस्कृतिक अध्ययन,'' वैशाली 1975
25. अहवा न वायव्वा दोसो कस्सवि केण कइयावि ।
पुव्वज्जिय कम्माओ हवंति जं सुक्ख दुक्खाइं ।।
26. सुकुमालसामीचरिउ—पं. श्रीधर ।
27. पओगवीससापरिणया वि य णं सामी ! पोग्गला पण्णत्ता । ज्ञाता. 1-12
28. ज्ञाताधर्मकथा 1-13
29. जैन, जगदीशचन्द्र, 'दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ, पृ. 75
30. दशवैकालिकचूर्णी पृ. 103-104
31. वसुदेवहिंडी, पृ. 145
32. द्रष्टव्य, शास्त्री, वही, तृतीय प्रकरण ।
33. जइ घडियं विहडिज्जइ घडियं घडियं पुणो वि विहडेइ ।
ता घडण-विहडणाहिं होहिइ विहडफ्फडो दव्वो ।। कु. 66-31
34. जैन, राजाराम, पाइयगज्जसंगहो (वीयोभाओ) पृ. 34-35
35. आचार्य रजनीश, महावीर मेरी दृष्टि में, पृ. 349-386 ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधना का अर्थ

आचार्य श्री तुलसी

साधना का अपना कोई अर्थ नहीं है। जहां साध्य और साधन समन्धित होते हैं वहां साधना प्रस्फुटित हो जाती है और जहां साधना प्रस्फुटित होती है वहां साध्य और सिद्धि की दूरी कम हो जाती है। साधन, साधना और सिद्धि के अन्तराल में केन्द्रीय तत्त्व साध्य ही है, इसलिए वही विशेष अर्थवान् होता है।

प्रश्न है—मनुष्य के जीवन का साध्य क्या है? इसका उत्तर मैं कैसे दूं? मैं मनुष्य हूं, इसलिए मेरा साध्य क्या है, इस सीमा में इसका उत्तर दे सकता हूं, किन्तु सब मनुष्यों का साध्य क्या है, इसका उत्तर देना मेरे लिए कैसे सम्भव हो सकता है? और मैं सोचता हूं कि किसी के लिए भी कैसे संभव हो सकता है? एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के साध्य की सीमा का निर्धारण कैसे कर सकता है?

इस चिंतन का एक दूसरा कारण भी है। उससे देखता हूं तब मानवीय एकता की रेखा उभर आती है। मनुष्यों में अभिव्यक्ति की तरतमता भले हो, उनमें सत्ता की तरतमता नहीं है। एक मनुष्य में जिस प्रकार की चेतनसत्ता है, उसी प्रकार की चेतनसत्ता दूसरे में है। आंतरिक सत्ता एक जैसी है तब साध्य दो कैसे हो सकते हैं? मनुष्य विकास की तरतमता के कारण साध्यभेद की कल्पना कर सकता है। पर उनके भीतर रही हुई चेतनसत्ता के साध्य भिन्न-भिन्न नहीं हैं। उस सबका एक ही साध्य है। वह है बन्धन-मुक्ति, स्वतन्त्रता की प्रस्थापना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य की चेतनसत्ता शरीर, सस्कार, इन्द्रिय और मन से परतंत्र बनी हुई है। इस परतंत्रता की पकड़ को ढीला करना ही साधना है।

शरीर की शिथिलता प्राप्त होते ही चेतनसत्ता आनंद के रूप में अपने अस्तित्व को प्रगट करती है। आप शरीर को शिथिल करने का अभ्यास बढ़ाते जाइये, आपकी आनंदानुभूति तीव्र होती जाएगी।

संस्कारों की शिथिलता प्राप्त होते ही चेतनसत्ता शांति और शक्ति के रूप में अपने अस्तित्व को प्रगट करती है। आप संस्कारों को क्षीण करने का ध्यान करते जाइये, आपका आत्मबल प्रखर होता चला जाएगा।

इन्द्रिय और मन की शिथिलता प्राप्त होते ही चेतनसत्ता प्रत्यक्षानुभूति के रूप में अपने अस्तित्व को प्रगट करती है। आप इन्द्रिय और मन की क्रिया को शिथिल करने का अभ्यास करते चलिए, आपकी प्रत्यक्षानुभूति प्रकृष्ट होती चली जाएगी।

आनन्द, शांति शक्ति और प्रत्यक्षानुभूति—ये चेतनसत्ता के मौलिक गुण हैं। परतंत्रता की स्थिति में ये शारीरिक सुख संघर्षबल, आवेगबल और परोक्षानुभूति से आवृत हो जाते हैं। इनकी आंतरिक छटपटाहट ही चेतनसत्ता को स्वतंत्रता की दिशा में गतिशील बनाती हैं। उस गतिशीलता ने ही मनुष्य को सत्यशोध के लिए प्रेरित किया है, अज्ञात को ज्ञात करने की प्रचेष्टा दी है।

शरीर हमारी साधना का क्षेत्र है। हम उस पर नियंत्रण स्थापित करते हैं। इसे कुछ लोग हठयोग कहते हैं।

संस्कार हमारी साधना का क्षेत्र है। हम उसे परिष्कृत करते हैं। कुछ लोग इसे राजयोग कहते हैं।

इन्द्रिय और मन हमारी साधना के क्षेत्र हैं। हम उन पर अपना प्रभुत्व स्थाप्ति करते हैं। कुछ लोग इसे ज्ञानयोग कहते हैं।

योग हमारी साधना का मूल तत्त्व है। योग के दो अर्थ होते हैं—समाधि और सम्बन्ध। जीवनक्रम में सम्बन्ध पहले होते हैं, समाधि बाद में प्राप्त होती है। व्यक्ति जन्म लेते ही सामाजिक बन जाता है। उसके साथ परिवार, समाज और राष्ट्र के सम्बन्ध जुड़ जाते हैं। मन की समाधि तब प्राप्त होती है जब वह प्रज्ञावान् बनता है।

संबंधों की स्वस्थता के क्रम में समाधि पहले प्राप्त होती है, संबंध बाद में। जिसके मन का समाधान होता है, वही संबंधों को स्वस्थ बनाए रख सकता है। असमाहित मन वाला संबंधों का ठीक निर्वाह नहीं कर सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस संदर्भ में आप साधना की आवश्यकता पर पुनः विचार कीजिए। वह केवल मुमुक्षु के लिए ही आवश्यक नहीं है। उन सब लोगों के लिए भी आवश्यक है, जो सामाजिक जीवन जीते हैं, सम्बन्धों की दुनिया में रहते हैं।

मुमुक्षु अपनी आंतरिक आवाज को सुन लेता है, आंतरिक योग का अनुभव कर लेता है। उसके लिए स्वतंत्रता या समाधि की साधना स्वतः प्राप्त हो जाती है। सम्बन्धों का जीवन जीने वाला वैसा नहीं कर पाता इसलिए इसकी साधना प्रेरित साधना होती है। उसकी साधना से फलित होता है समर्पण और समरसता।

व्यक्ति समूह के प्रति समर्पित होता है, समूह के साथ समरस होता है, पर तभी होता है या हो सकता है, जब उसके जीवन में समता का भाव सध जाता है। विषमता की मनः स्थिति में अहंकार और ममकार प्रबल होते हैं। उनकी प्रबलता समर्पण और समरसता की स्थिति को निष्पन्न नहीं होने देती।

साधना का अर्थ जंगल में भाग जाना या समूह से कट कर अकेला हो जाना ही नहीं है। भगवान् महावीर ने कहा है—'साधना गांव में भी हो सकती है, जंगल में भी हो सकती है। वह गांव में भी नहीं होती, जंगल में भी नहीं होती। वह समूह में भी हो सकती है, अकेले में भी हो सकती है। वह समूह में भी नहीं होती, अकेले में भी नहीं होती। यदि साध्य के प्रति उत्कृष्ट भावना और उपयुक्त साधन का चुनाव होता है तो वह गांव या जंगल, समूह या अकेले में कहीं भी हो सकती है। और यदि ऐसा नहीं होता है तो वह कहीं भी नहीं हो सकती।'

साधना का पहला चरण है भावना का अभ्यास। हमारे मन में प्रलंब अतीत के संस्कार जमे रहते हैं। उनमें कुछ संस्कार शत्रुता के हैं, कुछ ईर्ष्या के हैं, कुछ क्रूरता के हैं, कुछ विग्रह के हैं, कुछ अहं के हैं और कुछ ममत्व के हैं। हम जब समूह के प्रति समर्पित या समरस होने की तैयारी करते हैं, तब इनमें कोई न कोई संस्कार जाग उठता है और हमारी तैयारी के सामने अवरोध उत्पन्न कर देता है।

इन संस्कारों से निपटने के दो मार्ग हैं—ध्यान और फलभोग। संस्कार का फल भुगतने पर वह समाप्त हो जाता है पर उसमें बहुत लम्बा समय लगता है। उस लम्बी अवधि में हमारी साधना की भावना कुंठित हो जाती है और हम उससे निराश हो जाते हैं। ध्यान संस्कारों की समाप्ति का त्वरित मार्ग है। हम ध्यान करने वाले हर आदमी से शिकायत की भाषा में यह सुनेंगे कि जैसे ही मैं ध्यान करने बैठता हूं, मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करता हूं, वैसे ही मन विचारों से भर जाता है। उस समय कभी नहीं आने वाले विचार आने लग जाते हैं। ऐसा होता है, यह स्थिति है। पर क्यों होता है, वह विमर्श मांगता है। मेरी दृष्टि में इसका विमर्श बहुत जटिल नहीं है। घर सूना है, उसमें चोर घुस गये हैं। घर का मालिक आता है, चोर भाग जाते हैं। घर का मालिक सो रहा होता है, घर में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चोर घुस जाते हैं। वह जाग जाता है, चोर भाग जाते हैं। मालिक की जागरूकता चोरों को घर से बाहर निकाल देती हैं। ठीक यही बात संस्कारों के लिए है। हम अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक नहीं होते, तब संस्कार सुखपूर्वक उसमें डेरा डाले बैठे रहते हैं। जैसे ही हम उसके प्रति जागरूक होते हैं, वैसे ही उनका आसन डोल उठता है। जैसे-जैसे एकाग्रता का दबाव उन पर बढ़ता है वैसे वे स्थानच्युत होकर बाहर निकलने का प्रयत्न करते हैं। ध्यान करने वाला समझता है यह बहुत बुरा हो रहा है। पर वास्तव में वह बहुत अच्छा है। जो बीमारी अंदर घुसी हुई है वह बाहर आये बिना नष्ट कैसे होगी? दवा की प्रतिक्रिया होती है तब कभी-कभी बीमारी उग्र रूप ले लेती है। वह उग्रता उसकी समाप्ति की ही प्रक्रिया है। ध्यान करने वाला यदि धृति से विचलित नहीं होता है तो वे उखड़े हुए संस्कार बाहर आते-आते एक दिन शांत हो जाते हैं। उनके शांत होते ही मन भी शांत हो जाता है। ध्यानकाल में शत्रुता, ईर्ष्या, वासना आदि के संस्कार कभी-कभी बहुत प्रबल हो उठते हैं और ध्याता का मन ग्लानि से भर जाता है और साधक यदि दुर्बल धृति वाला होता है तो वह ध्यान से विरत हो जाता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर योगाचार्य ने लिखा है—साधना का मार्ग असिधारा पर चलने के समान है। धृति-संपन्न साधक साधना में प्राप्त होने वाली कठिनाइयों से घबराता नहीं, वह उतार चढ़ाव को संस्कार चिकित्सा की अनिवार्य प्रक्रिया मान उन्हें सहन कर लेता है। इस सहिष्णुता के बल पर वह चलते-चलते एक दिन बीहड़ जंगल के पार पहुँच जाता है। विचार के रूप में बाहर निकलते-निकलते संस्कार एक दिन क्षीणबल हो जाते हैं। ध्यान के कारण नए संस्कार फिर संचित नहीं होते। इस प्रकार वह विचारातीत भूमिका पर चला जाता है।

संस्कार-विलय की भूमिका में मैत्री, प्रमोद, करुणा और तटस्थता के संस्कार उदित होते हैं। ये भी संस्कार हैं। एक दिन इन्हें भी छोड़ना होगा। किंतु प्रारंभ में इनका उपयोग है। ये जलपोत के समान हैं, जो समुद्र के तट पर पहुंचा देते हैं। तट आने पर यात्री जलपोत छोड़ देते हैं। मैत्री आदि के संस्कार हमारे मन को निर्मल और प्रसन्न बना देते हैं। निर्मल और प्रसन्न मन एक ओर आध्यात्मिक गहराइयों में पहुंचने में हमारी सहायता करता है। तथा दूसरी ओर सामुदायिक व्यवहार को स्वस्थ और सुखद बनाता है। मुझे उस साधक या साधना में विश्वास नहीं है, जिसके व्यवहार में मैत्री, करुणा आदि का प्रतिबिंब न हो। शत्रुता आदि के संस्कार और ध्यान आदि की साधनायें दोनों एक साथ चल ही नहीं सकते। दोनों में से एक को मिटाना ही होगा—शत्रुता के संस्कार या ध्यान को। मैं ध्यान को इसलिए महत्त्व देता हूं कि वह योगविद्या का एक प्रमुख अंग है। योगविद्या का महत्व अपने आप में है। उससे हमारे शरीर, इन्द्रिय, मन और अन्तःकरण (अधिसंज्ञान) ये सभी निर्मल और स्वस्थ होते हैं। व्यक्ति की स्वस्थता समाज में संक्रान्त होती है। सामाजिक स्वास्थ्य का सर्वाधिक मौलिक उपादान है व्यक्ति का स्वस्थ होना। स्वस्थ व्यक्ति का समाज के प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है। वह समाज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को चालाकीपूर्ण सम्बन्धों से स्वार्थपूर्ति का माध्यम न मानकर उसे प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति के प्रगट होने का माध्यम मानता है। वह उस शक्ति स्रोत से शक्ति प्राप्त करता है और उसमें अपनी शक्ति की आहुति देता है। इस रूप में प्रगट होने वाली एकात्मकता व्यक्ति को समूह के प्रति निर्दोष बना देती है। आदमी में धन संग्रह की मूर्च्छा होती है। उसके कारण वह अनेक असामाजिक कार्य करता है—शोषण, मिलावट, ठगी, कूटतौलमाप, आदि-आदि। कानून के होने पर भी ये असामाजिक कार्य नहीं रुकते हैं। इसका कारण किसी गहराई में नहीं है। मूर्छा कानून की मर्यादा को अस्वीकार कर देती है। मूर्छावान् व्यक्ति कानून के सामने आवरण डाल कर छिपे-छिपे वह सब कर लेता है, जिसे कानून निषिद्ध करता है।

साधक ऐसा नहीं कर पाता। साधना के पहले चरण में मूर्छाभंग का अभ्यास करना होता है। उसके सधने पर अपने हित को प्राथमिकता देने की स्थिति समाप्त हो जाती है। उसमें हितों के सामंजस्य या समीकरण की स्थिति निष्पन्न हो जाती है। इस संदर्भ में मैं साधना को उपयोगी मानता हूं, गृहस्थ के लिए। और मुनि या सन्यासी के लिए तो वह आवश्यक है ही। इस संदर्भ में मैं साधना का अर्थ करता हूं—चित्त की निर्मलता का वह प्रतिबिंब जो हमारे व्यवहार में पड़ता है, चित्त के तेजस् की वह रश्मि जो हमारे अन्तःकरण को आलोक से भर देती है।

✦

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साहित्य-समीक्षा

जैन न्याय का विकास

प्रवक्ता—मुनि श्री नथमल
प्रकाशक—जैन विद्या अनुशीलन केन्द्र
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, 1977

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, में स्थापित 'जैन विद्या अनुशीलन केन्द्र' द्वारा आयोजित जैन न्याय के विषय पर प्रथम भाषणमाला के अन्तर्गत मुनि श्री नथमलजी ने जो व्याख्यान दिये उन्हीं का संग्रह प्रस्तुत ग्रंथ के रूप में प्रकाशित हुआ है। राजस्थान विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति डा० गोविन्द चन्द्र पाण्डे के शब्दों में "न्याय के सूक्ष्म और जटिल प्रकरणों में मूल तत्त्वों का सरल और मौलिक प्रतिपादन मुनि नथमलजी ने अपने व्याख्यानों में किया है। उन के प्रतिपादन में गंभीरता के साथ-साथ प्रसादगुण अद्‌भुत रूप से विद्यमान है जो कि उन की तलस्पर्शी विद्या का द्योतक है।"

जैन न्याय के विकास पर प्रकाश कई विद्वानों ने डाला है। इस विषय पर पंडित सुखलालजी, पंडित दलसुख मालवणिया तथा स्वर्गीय पंडित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य की देन उल्लेखयोग्य है। किन्तु इस विषय पर एक स्वतंत्र ऊहापोह की आवश्यकता थी, जिसकी संपूर्ति विशेष प्रकार से प्रस्तुत निबंध करता है।

लेखक का यह स्पष्ट अभिमत है कि आध्यात्मिक दर्शनों में तर्कशास्त्र का विकास तभी होता है जब उनमें साधना की ओर झुकाव क्रमशः कम होने लगता है। इस दृष्टि से जैन परम्परा में तर्कशास्त्र का विकास बौद्धों के बाद हुआ, कारण बौद्धों की अपेक्षा जैन आचार्य अधिक समय तक आध्यात्मिक साधना में ही संलग्न रहे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस भूमिका को ध्यान में रखकर ही लेखक ने जैन न्याय के विकास का मूल्यांकन किया है।

लेखक ने जैन न्याय के तीन युग निर्धारित किये हैं—1. आगमयुग, 2. दर्शन युग, तथा 3. प्रमाण-व्यवस्था युग। ईसा की पहली शती तक आगम युग, आठवीं शती तक दर्शन युग, तथा तदनन्तर प्रमाण-व्यवस्था युग माने गये हैं। आगम युग के न्याय में ज्ञान और दर्शन की विशद चर्चा प्राप्त है।

ईसा की दूसरी शताब्दी से दर्शन के क्षेत्र में न्याय-शास्त्र का विकास हुआ। इस युग में न्याय-शास्त्र का दर्शन-शास्त्र के साथ गठबन्धन हो गया।

न्याय-शास्त्र के विकास में बौद्धों और नैयायिकों ने पहल की। उनके पारस्परिक खण्डन-मण्डन ने न्याय-शास्त्र के नये युग का सूत्रपात किया। आगम और हेतु का समन्वय इस युग के जैन न्याय की एक विशेष उपलब्धि है। दूसरी उपलब्धि है—ज्ञान का प्रमाण के रूप में प्रस्तुतीकरण। सिद्धसेन दिवाकर का न्यायावतार जैन परंपरा में न्याय-शास्त्र का पहला ग्रन्थ है। जैन चिन्तकों ने तर्क बल द्वारा दूसरों के सिद्धान्तों का निरसन शुरू किया, पर अहिंसा की सुरक्षा और सत्य की सम्पुष्टि के लिए उस निरसन को समन्वय से जोड़ दिया।

इस प्रसंग में निब-ध के 'अनेकान्त व्यवस्था के सूत्र' एवं 'नयवाद' के प्रकरण विशेष रूप से मननीय हैं, जो चिन्तनार्थ प्रचुर नई सामग्री उपस्थित करते हैं। 'स्याद्वाद और सप्तभंगी' प्रकरण तो लेखक की अमूल्य देन है, जिसमें से 'स्याद्वाद के फलित' अंश को हमने पाठकों की जानकारी के लिए इस अ'क में उद्धृत भी किया है।

आचार्य अकलंक ने जैन प्रमाण व्यवस्था को परिष्कृत किया और उसमें नई दिशाओं का निरूपण किया। उन्हें जैन प्रमाण व्यवस्था युग का प्रवर्तक माना जा सकता है। लेखक ने इस युग के क्रमिक विकास पर प्रभूत प्रकाश डाला है, जो उनकी एक मौलिक देन है। अष्टम प्रकरण में अविनाभाव तत्व पर भी उन्होंने जो ऊहापोह किया है वह प्रशंसनीय है।

निबंध के नवम प्रकरण में भारतीय प्रमाण-शास्त्र को जैन परम्परा के योगदान का विश्लेषण करते हुए दर्शन और प्रमाण-शास्त्र की नई संभावनाओं का निरूपण भी किया गया है।

दार्शनिक का केवल तर्क शास्त्री होना पर्याप्त नहीं है। उसे साधक भी होना होगा। दर्शनों के मूल में साधना रही है। अत: दर्शन के विकास में भी उस साधना का सतत अक्षुण्ण रहना आवश्यक है।

आलोच्य निबन्ध की उपलब्धियों का संक्षिप्त विवरण हमने प्रस्तुत किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेखक के सुदीर्घ शास्त्राभ्यास, तलस्पर्शी चिन्तन एवं पक्षपातरहित विवेचन के परिपक्व फल का आस्वाद हमें इस निबंध में मिलता है।

मेरा यह विश्वास है कि यह निबंध भारतीय न्यायशास्त्र, विशेषतया जैन तर्क-शास्त्र, के क्रमिक विकास संबंधी अध्ययन के क्षेत्र में एक विशिष्ट उपलब्धि के रूप में अवश्य स्वीकृत होगा।

—डॉ नथमल टाटिया

ठाणं

वाचना-प्रमुख—आचार्य श्री तुलसी
संशोधक—मुनि श्री नथमल
प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनूं
मूल्य-125—00

भारतीय दर्शन का सहित्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—स्वतः-प्रमाण तथा परतः-प्रमाण। दिगम्बर संप्रदाय को छोड़कर जैनों के सभी संप्रदाय उपलब्ध अंग साहित्य को स्वतः प्रमाण मानते हैं। इस दृष्टि से अंग साहित्य का स्थान सर्वोपरि है। किन्तु इस अंग साहित्य के सम्बन्ध में अनेक कठिनाइयाँ हैं। प्रथम कठिनाई प्रामाणिक मूल पाठ निर्धारित करने की है। अंगों के मूलपाठ निर्धारित करने की कठिनाई आज से एक हजार वर्ष पूर्व के नवांगी टीकाकार अभयदेव सूरि के सम्मुख भी थी। मूलपाठ निश्चित किए बिना जैन आगमों का अनुसंधान वैज्ञानिक पद्धति से आगे नहीं बढ़ सकता। आचार्य श्री तुलसी, मुनिश्री नथमल एवं तेरापंथ संघ के अन्य साधु-साध्वियों ने मनोयोगपूर्वक अंग साहित्य के मूलपाठ का प्रामाणिक संपादन करके इस आवश्यकता की पूर्ति की है। भगवान महावीर की 25वीं निर्वाण शताब्दी पर जैन-विश्व-भारती, लाडनूं (राजस्थान) ने अंगसुत्ताणि भाग 1, 2, 3 प्रकाशित कर ग्यारह अंगों को विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया है।

किन्तु मूल प्राकृत पाठ विशिष्ट विद्वज्जन-भोग्य ही है, क्योंकि मूल प्राकृत से बिना किसी सहायता के अर्थावबोध की क्षमता बहुत कम लोगों में है। इसके अतिरिक्त जैन आगमों में ऐसे अंश हैं जो बिना व्याख्या किए अनुवाद मात्र से समझ में नहीं आ सकते हैं। इन बातों को ध्यान में रखकर मूल पाठ के साथ संस्कृत-छाया, हिन्दी अनुवाद और टिप्पणी देते हुए आगमों का प्रकाशन जैन-विश्व-भारती, लाडनूं की ओर से प्रारंभ किया गया है। इसके अन्तर्गत तृतीय अंग 'ठाणं' का प्रकाशन 1976 में किया गया। ठाणं जैन तत्त्वज्ञान का प्राचीनतम विश्वकोष है जिसमें विषयों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का निर्देश अक्षरानुक्रम से न करके संख्यानुक्रम से किया गया है। इसमें दार्शनिक या धार्मिक तत्त्वों के भेद-प्रभेद संख्या के आधार पर किये गए हैं। इसमें दस स्थान (अध्ययन) हैं।

पहले स्थान में एक संख्यावाची विषयों का, दूसरे में दो का, तीसरे में तीन का एवं इसी प्रकार दशवें में दस संख्यावाची विषयों का परिगणन है। भेदों का यह परिगणन यान्त्रिक नहीं है, विवेचनपूर्ण और सरस है। इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि इसमें धार्मिक विषय ही न होकर अनेकानेक उपयोगी लौकिक विषयों का भी समावेश है। उदाहरणतः भूगोल, गणित, मनोविज्ञान, संगीत, जीवविज्ञान, प्राचीन इतिहास, समाजशास्त्र इत्यादि विषयों पर यह ग्रन्थ विपुल प्रकाश डालता है। इसीलिए यह ग्रन्थ जैन धर्म-दर्शन के अध्येताओं के लिए तो कल्पवृक्ष के समान है ही किन्तु जिनकी धर्म-दर्शन में रुचि नहीं है उन्हें भी इसके अनुशीलन से ऐसे अनेक लौकिक सत्य मिलेंगे जो शायद अन्यत्र कहीं उपलब्ध न हों।

ऐसे अमूल्य ग्रन्थ को आज तक इस प्रकार प्रस्तुत नहीं किया गया था कि वह सभी के लिए सुगम हो सके। प्रस्तुत संस्करण में मूल प्राकृत पाठ, संस्कृत-छाया और हिन्दी अनुवाद एक-दूसरे के सामने इस प्रकार दिये गए हैं कि प्राकृत न जानने वाला भी मूल ग्रन्थ को पढ़ सकता है। प्रत्येक अध्याय के प्रारंभ में उस अध्याय के विवेच्य विषय पर एक आलोचनात्मक आमुख दिया गया है। यह आमुख हमें स्वतंत्र चिन्तन करने के लिए प्रेरित करता है। अध्याय के अन्त में दी गई टिप्पणियाँ केवल व्याख्या न होकर तुलनात्मक दृष्टि से की गई खोज का अंश है। इन टिप्पणियों में जैन दर्शन के तत्त्वों को सहवर्ती वैदिक तथा बौद्ध दर्शन के आलोक में विधिवत् देखने का प्रशंसनीय प्रयास किया गया है। इस कारण 'ठाणं' के इस संस्करण का अध्ययन वैदिक और बौद्ध परम्परा में अनुसंधान करने वालों के लिए भी परमोपयोगी होगा। इन टिप्पणियों में वैदिक और बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों का उपयोग भी इतनी बहुलता से हुआ है कि इस संस्करण को एक अर्थ में पूरी भारतीय संस्कृति का विश्वकोष कहा जा सकता है। सम्पादक के अपने निष्कर्षों से कहीं कोई सहमत हो या नहीं, किन्तु उसकी बौद्धिक ईमानदारी में किसी प्रकार के सन्देह का स्थान नहीं है। इस नाते प्राचीन भारतीय साहित्य और संस्कृति के अध्येता सामान्यतः और जैन धर्म के अध्येता विशेषतः इस संस्करण का अभिनन्दन करेंगे। जैन आगमों के इस प्रकार के संस्करण जैन-विद्या के अनुसंधान के मार्ग में मील के पत्थर सिद्ध होंगे।

कागज, मुद्रण तथा गैटअप की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ अपने विषय की गम्भीरता के अनुरूप ही बन पड़ा है।

—डा. दयानंद भार्गव

✦

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Dr. Jacobi and Interpretation of Vāsī-Chandana-Kappo

Muni Mahendra Kumar

In connection with my work of editing the works of Jayāchārya, the fourth pontiff of Jain Swetambar Terapanth Sect, I came across the use of the phrase *Vāsī-Chandana-Sāmya*.[1]

I recalled the same phrase used in the XIXth chapter of the *Uttarādhyayana Sūtra*, and referred to Dr. Jacobi's translation of the above[2].

UTTARĀDHYAYANA SŪTRA

The XIXth chapter of the *Uttarādhyayana Sūtra* depicts the story of Mṛgāputra, a great Jain ascetic. Mṛgāputra was the son of king Balabhadra and queen Mṛgā reigning from the beautiful town Sugrīva. On seeing an ascetic in the street, prince Mṛgāputra recalled his past lives and found that he had been 'an ascetic' in one of his past lives. Soon he decided to renounce the worldly pleasures and practise asceticism. After a long discussion with his parents, he succeeded in getting their permission, and having renounced the worldly possessions, he adopted the path of self-restraint.

The process of self-purification, which is popularly known as *Sādhanā*, essentially requires the mind of the ascetic to be trained in such a way that in all favourable and unfavourable conditions,

1. Jayāchārya's *Chaubīsī*, 1/4.
2. Sacred Books of the East, Vol. XLV.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

equanimity' is fully preserved. Mṛgāputra, the ascetic, had achieved this state and this is described in the above *Sutra*[1] thus :

"लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविये मरणे तहा ।
समो निंदापसंसासु, तहा माणावमाणओ ।।
अणिस्सिओ इहं लोए परलोए अणिस्सिओ ।
वासीचंदणकप्पो य असणे अणसणे तहा ।।"

DR. JACOBI'S INTERPRETATION

The eminent German scholar Dr. Hermann Jacobi, who has translated the four Jain canons[2]—the *Ācharānga Sūtra*, the *Kalpa Sūtra*, the *Sūtrakṛtānga Sūtra* and the *Uttarādhyayana Sūtra* into English has made the following translation of the above verses[3] :

"He was indifferent to success or failure (in begging), to happiness and misery, to life and death, to blame and praise, to honour and insult.

"He had no interest in this world and no interest in the next world ; he was indifferent to *unpleasant and pleasant things*, to eating and fasting."

Dr. Jacobi also makes the following remark in the foot-note[4] :

"*Vāsī Kandana*[5] *Kappo*—The author of the *Avarkūrī* explains this phrase thus : He did not like more a man who anoints himself with sandal than mason.' Apparently he gives to *Vāsa* the meaning 'dwelling'. But I think that the juxtaposition *Kandana* calls for a word denoting a bad smelling substance perhaps 'ordure'."

A close examination of the above quotation would show that both Dr. Jacobi and the author of *Avachūrī*[6] have misinterpreted

---

1. Uttarādhyayana Sutra, XIX, vv. 90, 92.
2. Sacred Books of the East, Vols. XXII, XLV.
3. S.B.E., Vol. XLV, P. 99.
4. S.B E , Vol. XLV, P.99.
5. In Jacobi's notation *K* stands for च (ch)
6. Dr. Jacobi has not mentioned the name of author of the *Avachūrī*. In the introduction to his translations, describing the MS of *Avachūrī*, he writes "But I have had at my disposal an illuminated old MS. of the *Avachūrī*, belonging to the Strassburg University Library. This work is apparently an abstract from the *Vṛtti* of Śāntyā-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the word *Vāsī*. By *Vāsī*, the author of *Avachūrī* understands a mason or a place of dwelling, deriving probably from the Sanskrit word *Vāsa*, whereas Dr. Jacobi translates '*Vāsī*' as some 'unpleasant thing' or 'a bad smelling substance'—perhaps 'ordure' (*i.e.*, filth or dung).

Before deliberating over the correct interpretation of the above phrase, we quote here other Sūtras where the same phrase has been used.

KALPA SUTRA

The *Kalpa Sūtra* depicts the life of the 24th *Tīrthaṅkara* Lord Mahāvīra and also elucidates his *Sādhanā*. An excerpt from it is[1] :

"से णं भगवं वासावासवज्जं.....वासीचंदणसमाणकप्पे समतिणमणिलेट्ठु कंचणे, समदुक्खसुहे....."

Dr. Jacobi translates this passage as follows[2] :

"The vanerable one lived except in the rainy season, all the eight months of summer and winter in a village only five nights. He was indifferent to the smell of *ordure* and of sandal, to straw and jewels, dirt and gold, pleasure and pain."

---

chārya, as in a great many passages it almost verbally agrees with Devendra's work" (which is an abstract from Śāntyāchārya's *Vṛitti*)", S.B.E., Vol. XLV, Introduction pp. xl, xli.

Hari Damodar Velankar, who has published an exhaustive catalogue of the Jain works and authors (in Sanskrit and Prakrit), mentions four different *Avachūrīs* on the *Uttarādhyayana Sūtra* :

(1) Composed in Samvat 1441 by Jñanasāgarasūri, pupil of Devasundarasūri, of the Tapā Gachha.

(2) By Jñanaśīlaganī (year not mentioned).

(3) By unknown author in Samvat 1488.

(4) By unknown author (year not mentioned).

(See, *Jinaratna-Koṣa*, by H.D. Velankar, pub. by Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1944, pp. 44. 45). Velankar has also mentioned the names of places and libraries where MSS are existing in collections. But unfortunately, Strassburg is not mentioned with any of the above four *Avachūrīs*. It is therefore difficult to know the name of the author of the *Avachūrī* used by Dr. Jacobi.

1. *Kalpa Sūtra*, Sūtra 119.
2. Sacred Books of the East, Vol. XXII, p. 262.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Here also Dr. Jacobi translates the word "*Vāsī*" by 'smell of ordure'.

Now on the basis of some famous works, Jain canons, commentaries on them and dictionaries and lexicons, we shall try to show that the interpretations offered by Dr. Jacobi and the author of *Avachūrī* (referred to by him) are erroneous.

JAMBŪDVĪPA-PRAJÑAPTI SŪTRA

The Jain canon *Jambūdvīpa Prajñapti Sūtra*[1], which is the sixth *Upānga*, supplies us with the following most unequivocal interpretation of *Vāsī-Chandana-Kalpa* while elucidating the *Sādhanā* of the first *Tīrthaṅkara* Ṛṣabhanātha :

"उसभे अरहा कोसलिए.....**वासीतच्छणे अदुट्ठे, चंदणाणुलेवणे अरत्ते** .....विहरइ।"

If the above text is compared with the passages quoted from the *Uttarādhyayana Sūtra* and *Kalpa Sūtra*, it will be found that the phrase used in those canons is found here in an expanded form viz. 'वासी तच्छणे अदुट्ठे, चंदणाणुलेवणे अरत्ते' making the whole meaning unequivocal.

The above passage is explained by the Commentator Śāntichandra Vāchakendra[2] thus[3] :

"वास्या—सूत्रधार-शस्त्रविशेषेण तक्षणं त्वच उत्खननं तत्राद्विष्टः-अद्वेषवान् चन्दनानुलेपनेऽरक्तः...अरागवान्।"

Thus according to the commentator, Vāsī is a particular weapon or tool of a carpenter, *takṣaṇam* is slitting of the skin ; *adviṣṭaḥ* means having no hatred; Chandana is sandalwood; *anulepana* means application on skin ; *araktaḥ* 'means having no attachment'.

Now the whole passage quoted above can be translated thus:

"Ṛṣabha, the conqueror of the internal enemies and the native

---

1. *Jambūdvīpa Prajñapti Sūtra*, Vakṣaskāra II, Sūtra 31.

2. Commentary called *Prameyaratnamañjūṣā* written by him in Vikram Samvat 1660 ; Cf. *Jinaratnakoṣa*, by H. D. Velankar, published by Bhandarkar Oriental Research Instt. Poona 1944, p. 131.

3. *Jambūdvīpa-Prajñapti Sūtra* (with commentary) pub. by Seth Devachand Lalbhai Pustakoddhar Fund, Surat, 1920, II/31.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of Kośala, lived having no hatred (towards one who) slit his skin with an adze and having no attachment (towards one who) applied the sandalwood....."

I have used here the word adze for *Vāsī*, which, according to the commentator, is a particular tool of the carpenter. In the following paragraphs we shall further discuss the usage of this word.

MAHĀBHĀRATA :

Mahābhārata is another important work which gives us a very clear usage of the same phrase. In this epic, in the forming excerpt, Yudhiṣṭhira expresses his desire to become an ascetic giving up worldly pleasures[1] :

युधिष्ठिर उवाच—
अलाभे सति वा लाभे समदर्शी महातपा : ।
न जिजीविषुवत्किञ्चिन्न मुमूर्षुवदाचरन् ॥
जीवितं मरणं चैव नाभिनन्दन्न च द्विषन् ।
वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः ॥
नाकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः ॥

This may be translated as follows[2] :

"Yudhiṣṭhira said, 'I shall be equally disposed in gain and loss ; I shall not act like a person having a desire for living or dying; I shall neither greet life nor hate death ; if some one slits one of my arms with an adze and another one anoints the other arm with the sandalwood, I shall neither wish the welfare (of the latter) nor calamity (of the former).

These *two* authoritative works *Jambūdvīpa Prajñapti Sūtra* and *Mahābhārata* explain the phrase *Vāsī-Chandana-Kalpa* very clearly. It seems that this phraseology was quite popular in both cultures—the Hindu as well as the Jain. The most astonishing element is that in both the traditions the phrase is used to denote the highest state of equanimity of an ascetic. Though Dr. Jacobi's translation expresses the same sense, it is clearly incorrect in the literal translation of the phrase.

---

1. *Mahābhārata, Śantiparva, Rājadharmānuśāsana Parva* XII-9-1-24.25.

2. Cf. *Mahābhārata*, Tr. and Ed. by Śrīpāda Damodar Satvalakar, Svadhyaya Mandal, Aundha, (Distt. Satara) 1929, XII-9-24, 25.).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

After having cited such clear evidences, no more testimony is required to show that *Vāsī* is neither a bad smelling substance, nor ordure, nor a place of dwelling, but a tool of the carpenter particularly the adze. Still we would like to quote here some more commentators who have explained this controversial phrase.

COMMENTATORS OF THE JAIN CANONS

I. First of all we quote the famous commentator Lakshmi Vallabhsūri,[1] who in his commentary to the *Uttarādhyayana Sūtra*, interprets the text under discussion thus :

"पुनः कीदृशः ? अनिश्रितो निश्रारहितः, कस्यापि साहाय्यं न वांछति, तथा पुनरिह लोके राज्यादिभोगे तथा परलोके परलोकादिसुखेऽनिश्रितो निश्रां न वांछते, पुनः स मृगापुत्रो वासीचंदनकल्पः— यदा कश्चिद् वास्या—पर्शुना शरीरं छिनत्ति, कश्चिच्चंदनेन शरीरमर्चयति, तदा तयोरुपरि समानकल्पः सदृशाचार स्तथा पुनरशने आहारकरणे, तथाऽनशने आहाराकरणे सदृशः ।।"

This means "Again how was he (Mṛgāputra) ? He desired no shelter, nor protection from anyone and again he did not wish to take shelter under worldly lures of the kingdom in this world and the pleasures of heavens in the next world and again, he *i.e.* Mṛgāputra was *Vāsī-Chandana-Kalpa i.e.* if some one would chop off the body with vāsī (*i.e.* paraśu—a hatchet) and some one else might anoint the body with sandalwood, he would have identical reactions for both of them ; and also he had the same feeling in feasting and fasting."

Thus according to the learned commentator, Mṛgāputra had achieved that state of equanimity of mind that he would not dislike the person who would cut his body with a hatchet nor he would appreciate the person who would anoint the body with sandalwood.

II. Śhānti Sāgar[2], a commentator of the *Kalpa Sūtra*, in his commentary to the above quoted passage[3] of the text, contends[4]:

---

1. Dīpikā was written by him on *Uttarādhyayana Sūtra*. Cf. H. D. Velankar, op. cit., 45. *Uttarādhyayana Sūtra Dīpikā*, pub. by Hiralal Hans Raj Jain Bhaskarodaya Printing Press, Jamnagar, p.726.

2. A commentary called *Kaumudī* written by him in 1707 (Vik. Sam) cf. Velankar, Op. cit. p. 77.

3. *Kalpa Sūtra*, Sūtra 119.

4. *Kalpa Sūtra* with *Kaumudī* pub. by Rishabhadev Kesarimal, Ratlam, 1936, Sūtra 119.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वासीचंदणसमाणकप्पे काष्ठच्छेदनोपकरणवासीतुल्ययोः छेदकपूजकयोर्विषये समभावः ।।"

Here also the commentator supports our interpretation by calling *Vāsī*—a tool used in chopping off the wood. What he means is an adze or a chisel or a hatchet. He explains the whole phrase thus[1] :

"The equanimity towards persons who are cutting and anointing (the body)."

III. Another commentator of the *Kalpa Sūtra*, Vinaya Vijayaji[1] in his commentary, explains the text thus[2] : 'वासी—सूत्रधारस्य काष्ठच्छेद नोपकरणं, चन्दनं प्रसिद्धं ; तयोर्द्वयोर्विषये समाणकप्पे समानकल्पस्तुल्याध्यवसायः ।"

Vinaya Vijayaji too explains here *Vāsī* as a tool of the carpenter used for cutting the wood, and by *Samāṇakappe* he understands 'having equal considerations for both the events *i.e.* in the event of (being cut by) *Vāsī* and that of (being smeared with) sandalwood'.

IV. In yet another interesting commentary[3] to the *Kalpa Sūtra* by Lakshmi Vallabha, the same commentator quoted above (no. I), a slightly different interpretation of the present phrases is found, although the meaning of the *Vāsī* remains unchanged.

Lakshmi Vallabha Gaṇī comments[4] :

"वासीचंदणसमा कप्पे—यथा पर्शुना चन्दनवृक्षः छिद्यमानः पर्शुमुखं सुरभीकरोति तथा भगवानपि दुःखदायकेऽपि उपकारं करोति अथवा पूजके छेदके च उभयोरुपरि समानकल्पः ।"

Here the commentator understands by *Vāsī* a hatchet (*i.e.* Parśu), but suggests the following two meanings of the whole phrase :

---

1. *Subodhikā Tīkā* written by him in (V.S.) 1696 cf. Velankar, op. cit. p. 77.

2. *Kalpa Sūtra Subodhikā Tīkā* pub. by Atmanand Jain Sabha, Bhavnagar, 1915.

3. *Kalpadruma Kalikā* composed by him during the reign of Jaina Saubhagya Sūri (who became sūri in V.S. 1892 ; cf Velankar, op. cit. p. 78.

4. *Kalpa Sūtra* with *Kalpadruma Kalikā*, pub. by Velji Shivji, Bombay, 1918, p. 136.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(*i*) Just as the tree of sandalwood on being cut by the hatchet perfumes the (edge) mouth of the hatchet ; the venerable one blesses even the person causing pain to him.

(*ii*) The venerable one had the same feeling for the adorer and the cutter.

The first interpretation is made taking the phrase as a 'metaphor'. We come across instances in literary works where sandalwood metaphorically stands for an extremely kind man ; all the same the non-metaphorical usage of the phrase in the original texts like *Jambūdvīpa Prajñapti Sūtra* and *Mahābhārata* compel us to reject the metaphorical interprtation. Even if we accept it, *Vāsī* stands for a particular tool of the carpenter viz. adze.

V. The Jain canon *Uvavāi Sūtra* (the first amongst the *Upāngas*) also makes use of the same phrase in describing the *Sādhanā* of the monks of Lord Mahāvīra. The original text is[1]: "से णं भगवंतो .....वासीचंदणसमाणकप्पा समलेट्ठुकंचणा.....विहरंति ।

The eminent commentator Abhayadeva Sūri in his *vṛtti* to the above sūtra explains the phrase thus[2] : वासीचन्दनयोः प्रतीतयोरथवा वासीचन्दने इव वासीचन्दने अपकारोपकारकौ तयोः समानो निर्द्वेष रागत्वात्समः कल्पो विकल्पः समाचारो वा येषां ते वासीचन्दनसमानकल्पाः ।"

This means "They (the monks of Mahāvīra) were *Vāsī-Chandana Kalpāḥ i.e.* having completely abated hatred and love, they had equal consideration for the evil-doer as well as benefactor who were like *Vāsī* and *Chandana* respectively.

In his commentary, Abhayadeva Sūri does not give the (literal) meaning of *Vāsī* and *Chandana*, but takes them metaphorically by equating the evil-door with *Vāsī* and a benefactor with *Chandana.* However, his interpretation implies that considering *Vāsī* to be an instrument used in cutting, he equates it with an evil-door.

VI. An important Jain canon *Praśna Vyākaraṇa Sūtra*, the ninth *aṅga* also gives us clue to the right interpretation of the above

---

1. *Uvavāia Sūtra* with Abhaya deva Sūri's commentary pub. by Rai Dhanpat Singh Bahadur, Calcutta, 1936, p. 100.

2. Ibid., p. 100.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

phrase. In one place where a list of several weapons is given, *Vāsī* is included in it. The original text runs thus[1] : "पुव्वकम्मकयसंचयोवत्तत्ता निरयग्गि-महग्गि संपलित्ता.....इमेहिं विविहेहिं आयुहेहिं किते ? मोग्गर-मुसुंढि-करकय-सत्ति .....खग्ग-चाव-नाराय-कणक-कप्पिण-वासि-परसु-टंकतिक्ख-निम्मल अण्णेहि य एवमादिएहिं असुभेहिं वेउव्विएहिं पहरणसत्तेहिं अणुबद्ध तिव्ववेरा परोप्पर-वेयणं उदीरेंति अभिहणंता.....।"

The above passage describes the sufferings of denizens of hell ; they (the denizens of hell) on account of their own bad activities take birth in hell and undergo various kinds of agonies. They give pain to each other by fighting with various weapons such as mace, a sort of missile, saw, lance, sword, bow, arrow, scissors, adze, hatchet etc.

This list contains the term *Vāsī*. It should mean an adze, the instrument used by the carpenter for cutting off the wood. The term *Paraśu*, used here with *Vāsī*, also denotes a tool of the carpenter, meaning an axe. *Vāsī*, therefore, should mean adze or hatchet.

VII. The word *Vāsī* is used in the *Uttarādhyayana Sūtra* also in another place. In a list of the insects possessing two sense-organs, an insect called *Vāsīmuha* (skt. *Vāsī-mukha*) is mentioned[2]. Almost all the commentators translate it as an insect possessing the mouth like an adze[3]. It is surprising that Dr. Jacobi also translates here *Vāsī* as an adze. Explaining the word *Vāsīmukha* he writes[4]— "*Vāsīmukha* is explained as an insect whose mouth is like a *chisel* or *adze*. There are many insects, e.g. the Curculionedae which suit this description."

Here Dr. Jacobi clearly translates; *Vāsī* as a chisel or an adze. According to him, this translation is based on the explanation given by the *avachūrī*[5]. Now a question may arise as to why Dr. Jacobi and the author of the *Avachūrī* (to which he refers), despite their knowledge of the true meaning of the word Vāsī, do not use it in explaining the phrase *Vāsī-Chandana-Kappa*. The reason probably

---

1. *Praśna Vyākarṇa Sūtra, Āśrava Dvāra* 1, 1/5/4.
2. किमिणो सुमंगला चेव अलसा मायवाहया ।
   वासीमुहा य सिप्पी य, संखा संखणगा तहा ।।
   —Uttarādhyayana Sūtra, 36/129.
3. See for example, commentary by Lakshmi Vallabha, p. 1244.
4. *S.B.E.*, Vol. XIV, p. 219, foot-note 4,
5. Ibid., p. 219-note 1.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

seems to be that because the word *Vāsī* is used with *Chandana*, it might not have been possibly thought by them to comprehend the true meaning. Whatever the reason may be, it is certain that the word *Vāsī* denotes the tool of a carpenter, viz. an adze.

DICTIONARIES AND LEXICONS

The word *Vāsī* has not only confused the commentators' mind but also seems to have puzzled lexicographers. The eminent Western lexicographer and great Sanskrit scholar Arthur Anthony Macdonell, in his Sanskrit-English Dictionary[1], gives the word *Vāsī* without giving its meaning. He simply writes : वासी Vāsī, s.v. Vāsī".

1. The *Amarakoṣa*, one of the most standard lexicon in Sanskrit, also does not give any information about *Vāsī*.

First of all we shall see how the most prominent Jain lexicographer Hemachandrāchārya explains the word.

2. In the *Abhidhāna Chintāmaṇi*, popularly known as *Nāmamālā*, the author enumerates the synonyms of *Vāsī* thus :[2] "वृक्षभित् तक्षणी वासी"

In his own commentary (*Svopajña Tīkā*), Hemachandra gives the following etymology[3], "वृक्षान् भिनत्ति वृक्षभित् ॥ 1 ॥ तक्ष्यतेऽनया तक्षणी ॥2 ॥ वसति हस्ते वासि :, "कृश्रृकुटि" (उणा. 619) ॥ इति णिदिः ङ्यां वासी ॥ 3 ॥

Thus according to Hemachandra, *Vāsī* means *Vṛkṣabhit* or *Takṣaṇī*. *Vṛkṣabhit* is etymologically explained as that which cuts the trees ; *Takṣaṇī* as by which any thing is stripped off : and *Vāsī* as which resides in the hand. Again quoting the rule of grammar, the learned laxicographer proves its formation and shows that it is spelled as *Vāsī* as well as *Vāsi*. This etymological explanation

---

1. A Practical Sanskrit Dictionary (with transliteration, accentuation and etymological analysis, throughout) by Arthur Anthoney Macdonell pub. by Oxford University Press, 1954, p. 279.

2. *Abhidhāna Chintāmaṇi*, Kaṇḍa III, p. 581.

3. *Abhidhāna Chintāmaṇi* with *Svopajña Tīkā*, Ed. by Hargovind Das and Bechardas, pub. by Nathalal Laxmi Chand Vakil, Bhavnagar, 1914, p. 367.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

makes It dead sure that *Vāsī* is a tool of carpente used in cutting the wood.

3. In another authoritative work on lexicography, Hemachandra mentions the word *Vāsī* as a synonym of the word *Mṛtsā*. The *Anekārtha Saṁgraha* giving the various meanings of *Mṛtsā* states the following verse[1] :

"शतपुष्पामधुर्योश्च मृत्सा वासी सुमृत्तिका ।
रसः स्वादे जले वीर्ये शृङ्गारादौ विषे द्रवे ।।"

This verse states that the word *Mṛtsā* is used in the sense of *Vāsī* as well as *Sumṛttikā*. Now, commentator Mahendra Sūri (who is a pupil of the author), in his commentary called *Kairvakara Kaumudī* explains the word thus:"[2] (मृत्सा)

वासी तक्षोपकरणम् सुमृत्तिकायां यथा ।
निःशल्ये संस्कृते तत्र मृत्सारचितवेदिका ।।"

It means that *Mṛtsā* and *Vāsī* denote a tool for cutting the wood. The other meaning of *Mṛtsā* is not useful for us here and, therefore, we may omit its discussion.

4. Modern lexicographer and well-known scholar of Prakrit language, Pt. Hargovind Das Seth, in his *Pāia-Sadda-Mahaṇṇavo*, a Prakrit Hindi Disctionary, mentions[3] : "वासि, स्त्री (Skt. वासी) वसूला, बढ़ई का एक अस्त्र, नहि वासिवड्ढइणं इहं अभेदो कहंचिदवि (धर्मसंग्रहणी, 489)। देखो वासी ।

Again, explaining the meaning of Vāsī, he writes,[4] वासी, स्त्री (वासी) वसूला, बढ़ई का एक अस्त्र ; (पण्ह १, १; पउम १४, ७८; कप्प; सुर १, २८; औप०)। वासीमुह, पु०; (वासी मुख) वसुले के तुल्य मुँहवाला एक तरह का कीट, द्वीन्द्रिय जन्तु की एक जाति ; (उत्त० 36, 129)।"

---

1. *Anekārtha-Saṁgraha*, with Commentary by Mahendra Sūri, edited by Theoder Zacharia, pub. by Alfred Holder, Viena, 1803, Kāṇḍa II, verse 573, p. 43 [Published in Series of Sanskrit Lexicography, Imperial Academy of Sciences, Viena, vol. I].

2. Ibid., p. 83.

3. *Pāia Sadda Mahaṇṇavo* (A comparative Prakrit-Hindi Dictionary with Sanskrit equivalents, quotations and complete references) by Pandit Hargovind Das T. Seth, pub. by the author, Calcutta, 1928, p. 949.

4. *Ibid.*, p. 949.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Thus according to Pt. H.D. Seth *Vāṣī* and *Vāsi*—both the words are of feminine gender and denote a tool of carpenter called *Vasūlā* in Hindi, meaning an adze[1]. He has quoted a verse from *Dharma Sangrahanī*[2] which uses the word *Vāsi* in the sense of an adze. Again, he has given references to several Prakrit works such as *Praśna-vyākaraṇa*, *Paumacharia*[3], *Kalpa Sūtra*, *Surasundarīcharia*[4] and *Uvavāi Sūtra* making use of the word *Vāsī* in the sense of an adze. Pt. H.D. Seth also mentions the word *Vāsī-muha-(skt. Vāsī-mukha)* used in the *Uttarādhyayana Sūtra*. Here also according to Seth, *Vāsīmukha* denotes an insect belonging to the class of being possessing two sense-organs and having mouth like an adze.

5. In the great Sanskrit lexicon, *Śabda-Kalpadruma*, the word *Vāsī* is explained[6] as follows : "वासी (स्त्री) वासयतीति वासि अत्त । गौरादित्वाद् ङीष् । तक्षणी । वाइस इति ख्यातास्त्रम् । इति त्रिकाण्डशेष : ।

वासि: (पुं०) (वस्निवासे वसिवपियतिरागीति) उणा० 4 ।124 इति इञ् कुठारभेद: वाइस इति भाषा । इत्यणादि कोष: ।"

Here the lexicographer has etymologically derived *Vāsī* in feminine gender from the verb वासयति and given the Sanskrit synonym *Takṣaṅī* and Vernacular synonym *Vāisa*. He has also explained the word *Vāsī* in masculine gender deriving it from the verb वस् (vas=to live) : its meaning is given as *Kuṭhārabhedaḥ i.e.* a kind of hatchet.

---

1. Cf. Bhargava's *Standard Illustrated Anglo-Hindi Dictionary* compiled by Prof. R.C. Pathak, (11th Edition). pp. 28 (see also the picture of adze given on it), 1151.

2. A prakrit work by Haribhadra Sūri, pub. by Devachand Lalbhai Pustakoddhara Fund, Bombay, 1916, v. 489.

3. It is to be remarked that *Paumacharia* by Vimal Sūri is edited by Dr. H.Jacobi and pub. by Jain Dharma Prasaraka Sabha, Bhavnagar, 1914, see Cantos XIV, vs. 78.

4. Also known as *Kathā Surasundarī*, a love story in Prakrit written by Dhaneśvara Muni (A.D. 1848) Ed. by Muni Shri Rajvijayji, pub. by Jain Vividha Sahitya Śāstramālā Banaras, 1916, Pariccheda I, v. 28.

5. *Uttarādhyayana Sūtra*, 36/129.

6. *Śabda-Kalpadruma* by Sir Rājā Rādhā Kānta Deva Bahādūra, pub. by Motilal Banarasi Dass, Delhi, 1960, *Kāṇḍa* IV, p. 357.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The vernacular meaning is given as above. The word *Takṣaṇī* corresponds to the adze.

6. Well-known modern lexicographer Principal V.S. Apte has nicely explained the word *Vāsī*, in his Sanskrit-English Dictionaries. He observes[1] :

"वासि m.f.=An adze, a small hatchet, chisel : वस्इञ् 4,136

He also quotes the verse of *Mahābhārata*[2].

7. Another Sanskrit-English Ditionary published from Oxford and complied by an eminent lexicographer Sir Monier Williams, well explains the word *Vāsī*. He writes[3] :

"वासि=*Vāsī* or *Vūsi*, f. a carpenter's adze, L.(Cf. *Vāsi*)"

The lexicographer has rightly explained the words *Vāsī* and *Vāsi*, both of feminine gender and both denoting the carpenter's adze. But the abbreviation *'L'* at the end of the explanation is erroneous. By 'L' the author means[4]—"lexicographers (*i.e.* a word or meaning which although given in native lexicons, has not yet been met in any published text".) But, as we have already seen, authoritative texts such as *Mahābhārata do* use the word. It seems that the compiler of the dictionary is not aware of this usage.

8. An important Prakrit-Gujarati Dictionary[5] composed by

---

1. *The Practical Sanskrit-English Dictionary* by Principal V.S. Apte, Ed. by P.K. Gode and C.G. Karve. Prasad Prakashan, Poona 2, 1957; also Cf. The Students' Sanskrit-English Dictionary by V.S. Apte, Motilal Banarsidas, Delhi, 1959, p. 504.

2. जीवितं मरणं चैव, नाभिनन्दन् न च द्विषन् ।
वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षत: ।। (Mb—12.9.25; 1.11915).

3. *A Sanskrit-English Dictionary* (etymologically and philologically arranged with special references to Cognate Indo-European languages) by Sir Monier Williams, New Edition greatly enlarged and improved with the collection of Prof. E. Leumann, and prof. C. Cappeller, and other scholars (Oxford University Press, 1889), pub. in India by Motilal Banarasidas , 1963, p. 948.

4. *Ibid.*, p. XXXV.

5. *Jainägamasabda-sangraha*, pub. by Sanghvi Gulabchand Desa Raj, Limbdi, Kathiawar, 1926.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Satāvdhānī Muni Ratna Chandra, also gives the same meaning. He writes[4] : "वासी (स्त्री) (वासी) वांसलो, फरसी ।"

The Gujārati word *Vāmsalo* or *Pharasi* denotes an adze. Muni Ratna Chandra also gives the meaning of the whole phrase वासी-चंदण-कप्प as follows[2] :

"He also maintains equal attitudes towards two persons, even though one cuts him with an adze and the other anoints with the sandalwood."

9. In the Jain encyclopaedia, *Abhindhāna Rajendra Koṣa*, the word *Vāsī* is explained as follows[2] : "वासी-वासी-स्त्री! 'वसुला' इति ख्याते लोहकारोपकरणविशेषे, हा0 29 अष्ट० आचा० । ज्ञा० ।"

The author of the encyclopaedia clearly means by *Vāsī* an adze, a particular tool of the blacksmith. Here, instead of calling it a tool of carpenter, he calls it a tool of blacksmith.

Further, Vijaya Rajendra Sūri elucidates the whole phrase *Vāsī-Chandana-Kappo as follows*[4] : "वासीचंदणकप्प-वासीचंदनकल्प-पु० । उपकार्यनुपकारिणोरपि मध्यस्थे, आव० 5 अ०। वासीव वासी–अपकारी तांचंन्दनमिव दुष्कृतं तक्षणहेतुतयोपकारकत्वेन कल्पयन्ति मन्यन्ते वासीचंदनकल्पाः। हा० । यदाह—

"यो मामपकरोत्येष, तत्त्वेनोपकरोत्यसौ ।
शिरामोक्षाद्युपायेन कुर्वाण इव नीरुजम् ।।

अथ वास्यामपकारिण्यां चन्दनस्य कल्प इवच्छेद इव ये उपकारित्वेन वर्तन्ते ते वासी-चन्दनकल्पाः । आह च—

'अपकारपरेऽपि परे, कुर्वन्त्युपकारमेव हि महान्तः ।
सुरभीकरोति वासी मलयजमपि तक्षमाणमपि ।।'

वास्यां वा चन्दनस्येव कल्प आचारो येषां ते तथा । अथ वास्यां चन्दनकल्पाश्चन्दन-तुल्या ये ते तथा भावना तु प्रतीतैव । हा० २६ अष्ट ० । ज्ञा० । "

Here the author of the encyclopaedia has quoted the *Hari-*

---

1. *Ibid.*, p. 686.

2. वासीचंदणकप्प (त्रि०) (वासीचंदनकल्प) कोई बाँसला थी छेदे अने कोई चंदनथी लेप करे तो पण बन्ने तरफ समभाव राखनार ।

3. *Abhidhāna-Rājendra* (Jain Encyclopaedia) Prakrit-Magachi to Sanskrit, by Vijay Rajendra Suri, Ratlam, 1934, Vol. VI, p. 1108.

4. *Ibid.*, pp. 1108, 1109.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

bhadrīya Aṣṭaka[1] : The commentator presents several interpretations with different literal meanings. In this quotation, the word *Vāsī*, is throughout interpreted as an adze, but the word *Kalpa* is interpreted variously.

Firstly, it is interpreted thus : As the sandalwood considers the adze a benefactor because of itself being cut by it (and thus getting an opportunity of spreading the perfume), they (who are *Vāsī-Chandana-Kalpāḥ*) consider the evil-doer their benefactor. Then quoting an *apophthegm*, it is said, "He who is doing evil to me is, in reality, benefitting me, like curing a man by causing bleeding etc. (during a surgical operation)."

Secondly *kalpa* is explained as *Chheda i.e.*, cutting. The whole phrase is explained thus : They act beneficially towards the evil-doer like sandalwood on being cut by the adze. Again, another maxim is quoted. "Though the evil-doers do evil, the great men benefit them ; though being pared by an adze, the sandalwood perfumes it."

Thirdly, *kalpa* is interpreted as *Āchāra i.e.*, activity. Here *Vāsī-Chandana-Kalpāḥ* means they whose activity is like that of sandalwood towards the adze.

Lastly, the word *Kalpaḥ* is interpreted as a synonymous of the word *Tulya i.e.*, similarly, the whole phrase thus denoting, they who are like sandalwood towards the adze.

Thus the meaning of the phrase is made clear.

In the above quotation the word *kalpa* is interpreted variously, the meaning of the whole phrase practically remaining unaltered. The interpretation made by the commentator here is identical to Abhayadeva Sūri's interpretation quoted before. However, the word *Vāsī* is understood to denote the adze throughout.

VERNACULAR LANGUAGES

The commentators who have elucidated the Jain canonical

1. *Aṣṭaka-Prakaraṇa* by Haribhadra with *Tīkā* (commentary) in Sanskrit by Jineśvara Sūri, pub. by Mansukha Bhagubhai, Ahmedabad, Vs. 1908; The commentary is believed to be corrected by Abhayadeva Suri. Hence, the interpretation is identical to that of Abhyadeva Suri quoted before (Cf *Jinaratna Koṣa* by Hari D. Velankar, p. 18.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

literature in vernacular languages such as Hindi, Rajasthani, Gujarati, have almost unanimously made the same interpretation as has been made in the *Jambūdvīpa Prajñapti Sūtra.*

We quote here some of the important commentators :—

The Fourth Pontiff of Terapanth, Srimad Jayacharya[1], in his poetical translation of the *Uttarādhyayana Sūtra* in Rajasthani, explains the phrase thus[1] :

":Someone cuts him with adze and some one anoints him with the sandalwood ; then he has equal sentiment for both without having any love or hatred for either."

Similarly, Amrita Chandra Suri, in his translation of *Uvavāī Sutra*,[2] and Muni Hastimalji in his translation of *Praṣna Vyākarna Sūtra*,[3] and Muni Atmaramji in the Hindi commentary to the *Uttaradhyayana Sūtra*[4] have interpreted as above.

In one of the recent publications of the *Uvavāī Sūtra*, the translator has given several interpretations of *Vāsī-Chandana-Kalpa*[5], as follows :

1. "The sandalwood perfumes even the edge of the adze which cuts it, because it is the nature of the sandalwood to emit scent ; similar is the way to have an intention of doing benefit even to an evil-doer.

---

1. Jayāchārya (VS. 1860-1938) was a great scholar of Jain Canonical literature who had translated poetically (in verse) several such canons including Bhagvati Sutra.

1. "कोइक वशौलै करिने छेदै, कोइक चंदने लीपे ।
ए बीहुं ऊपर भाव सरीखा, राग रु द्वेष सुजीपै ।

2. *Uvavāī Sutra* pub. by Rai Dhanpat Singh Bahadur, Calcutta, 1936, p. 100.

3. *Praśna Vyākaraṇa Sūtra.* pub. by Hastimalji Surana, Pali, 1950, p. 42.

4. *Uttarādhyana Sūtra* pub. by Jain Shastra Mala Karyalaya, Lahore, 1334, Vol. II, 19/92.

5. *Uvavāia Sutra* Tr. by Muni Umesh Chandraji 'Anu', published by A.B. Sadhumargi Jain Sanskriti Rakshaka Sangha, Sailana (Madhya Pradesh), 1963, p. 101.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2, "To show equal feelings towards an evil-doer acting like an *adze as well as a benefactor* giving coolness like sandalwood—to show neither hatred nor love.

3. "To keep equanimity of mind towards a person causing pain by the weapon and the one anointing with sandalwood."

It should be observed here that in these interpretations, *Vāsī* is throughout understood as 'an adze'. The various interpretations seem to be based on different commentaries. In the first two interpretations, the phrase is interpreted metaphorically, while the third one is a literal explanation.

SOME OTHER SOURCES

We come across the use of the words *Vāsī* and *Chandana* in many non-canonical works. We quote here a few of them merely for an illustration.

1. Eminent literateur Hemachandra, elucidating the highest stage of equanimity, observes[1] :

"गोशीर्षचन्दनालेपे वासीच्छेदे च वाहयो: ।
अभिन्ना चित्तवृत्तिश्चेत् तदा साम्यमनुत्तरम् ॥

That is "When a person's mind is completely indifferent to his hands being smeared with sandalwood and cut with the adze, then there is the highest equanimity."[2]

This verse of Hemachandra gives an unequivocal explanation of the phrase under discussion.

2. Another eminent expounder of Jainism Haribhadra Sūri, in his commentary to the *Āvasyaka-Niryukti* explains as follows[4] :

"जो चन्दणेण वाहुं आलिंपइ वासिणा व तच्छेई ।
संथुणइ जो व निंदइ महरिसिणो तत्थ समभावो ।"

---

1. *Yogaśāstra-Prakāsā* by Hemchandra, pub. by Jain Dharma Prasaraka Sabha, Bhavnagar, 1915, 4-54 (*ii*).

2. Cf. *Yogaśāstra* of Hemchandra, Ed. and Tr. into German by E. Windisch, in the *Zeitschrift der Deutschen Morgenlandeschen Gesellschaft*. Vol. XXVIII, *p.* 185 ff. Ch. IV, *v.* 54 (*ii*).

3. "वासीचंदणकप्पो जो मरणे जीविए य समसण्णो ।
देहे य अपडिबद्धो काउसग्गो हवइ तस्स ॥
Āvaśyaka-Niryukti, v. 1548

4. *Āvaśyaka-Niryukti* with Haribhadra's commentary, pub. by Āgamodaya Samiti, Bombay, 1916-17, p. 799 (*i*).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

This means—"The great ascetics keep equanimity when one anoints the arm with sandalwood or cuts with the adze, and when one praises or abuses."

3. In his commentary to Yaśovijayagaṇī's *Adhyātmasāra*[1], the commentator Gambhīravijayagaṇī explains the phrase thus[2] :

वासीचन्दन तुल्यता, वासी कुठारिका, तया शरीरस्यछेदनं तथा चन्दनेनार्चनं,तयो विषये तुल्यता—शोकहर्षाभावात्सादृश्यं स्यात्—रागद्वेषयोरवकाशाभावादित्यर्थः ।"

The explanation is : "*Vāsī* means *Kuthārikā i.e.*, a small axe (or an adze)—slitting of the body by it—and anointment with sandalwood—equanimity in both these cases ; it is because of the absence of sadness and happiness because of the absence of love and hatred that there is similarity (between the two).

4. The *Subhāsita-Ratna-Bhāṇḍāgāra or* a collection of epigrammatic and instructive Sanskrit verses, supplies us some verses using the same metaphor of *Vāsī* and *Chandana*..

A maxim quoted from Ravigupta reads[3] :

"सुजनो न याति विकृतिं, परहितनिरतो विनाशकालेऽपि ।
छेदेऽपि चन्दनतरुः सुरभयति मुखं कुठारस्य ॥"

That is, "A gentleman who is always beneficial to others does not give up his gentleness even in the time of his catastrophe ; the sandalwood perfumes the edge of the axe in spite of being cut by it."

Another popular apopthegm collected in the above work is[4] :

"धिक् चेष्टितानि परशो परिशोचनीयवालप्रवालमलयाद्रिरूहद्रुहस्ते ।
निर्भिद्यमान-हृदयोऽपि महानुभावः स त्वन्मुखं पुनरमीः सुरभीकरोति ॥"

The sense is "O axe ! I hate your activities. Your rancour of sandalwood is really a matter of anxiety (for) that gentleman (*i.e.*, sandalwood) in spite of his heart being lacerated by you, scents your mouth with his fragrance."

---

1. "समतापरिपाके स्याद् विषयग्रहशून्यता ।
यया विशदयोगानां वासीचन्दनतुल्यता ॥

Adhyātmasāra by Yasovijayagaṇī, pub. by Jain Dharma Prasaraka Sabha, Bhavnagar, 1915, 3/37.

2. *Ibid.*, p. 70.

3. *Subhāsita Ratna Bhāndāgāra*, ed. by Kasinath Panduranga Parab, Pub. by Nirnaya Sagar Press, Bombay, 1891, third edition, p. 71, verse 93.

4. Ibid., p. 378, v. 48.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

In both the above verses the sandalwood metaphorically represents a gentleman or a person of very kind nature. The metaphorical interpretations made by Abhayadeva Sūri and others seem to be based on such popular maxims. We come across such maxims even in vernacular languages.[1]

CONCLUSION

In the Indian literature, the phrase *Vāsī-Chandana-Kappo* is used to illustrate the state of equanimity of an ascetic who has reached a very high stage of *Sādhanā*. There are four possible interpretations suggested by various scholars :

1. It signifies a person indifferent to the smell of ordure (or any bad smelling substance) and the fragrance of sandalwood. (Interpretation made by Dr. Jacobi).

2. The metaphorical interpretation is : The sandalwood, in spite of being cut by the adze, perfumes it ; in the same way, an ascetic benefits even his evil-doer (Interpretation made in some popular maxims and accepted by Abhayadeva Sūri).

3. Another metaphorical interpretation is : The phrase expresses a qualification of a person having equal attitude towards an evil-doer like the adze and benefactor like the sandalwood. (Alternative interpretation suggested by Abhayadeva Suri).

4. The direct and literal interpretation :—"A person when being slit with the adze by one person and smeared with the sandalwood by the other one, holds some attitude (of indifference) towards both without showing hatred or love. (Interpretation based on the original texts such as *Jambūdvīpa Prajñapti Sūtra* and *Mahābhārata* accepted by the commentators such as Haribhadra Sūri[2], Hemachandra and others).

---

1. See, for example, the verses of the popular poets such as Tulsidas and Sunderdas.

2. Haribhadra Suri seems to be well-acquainted with the original meaning and hence, in his commentary to the *Āvaśyaka Niryukti* of Bhadrabāhu, he has made the same interpretation as No. 4. But Abhayadeva Suri seems to be unaware of this usage, and hence, in his commentary to the *Uvavāia Sūtra* and *Haribhadrīya Aṣṭaka* (in which he has made corrections), he makes interpretation different from Haribhadra himself.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

After comparing the above four interpretations, we conclude that the last interpretation (No. 4) is the correct one, because the the original texts like *Jambūdvīpa* and *Mb.* have unequivocally used the phrase in this sense.

It seems that variance in the interpretations is created because of the succinct use of the phrase (in the form of *Vāsī-Chandana-Kappo* or *Vāsī-Chandana-Samāna Kappo*) in the *Uttarādhyayana Sūtra*, *Kalpa Sūtra*, *Uvavāī Sūtra*, Haribhadrīya *Aṣṭaka* etc. The commentators who have made the 2nd and 3rd interpretations appear to be unaware of the expanded use of the phrase (in the form of *Vāsītacchaṇe aduṭṭhe*, *Chandanānulevaṇe aratte* or *Vāsyaikam takṣte bāhum chandanenaikamukṣtaḥ*) in the authoritative and original works such as *Jambūdvīpa-Prajñapati Sūtra* and *Mahābhārata*.

They have probably based their explanation on the popular apophthegms. Thus, though the interpretation No. 2 and No. 3 are not erroneous, they do not seem to represent the exact sense.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The Classification of Varieties of *Hetu* in Jaina Logic

Dr. Dayanand Bhargava

Vidyānanda (9th Cent. A.D.) has classified the varieties of *hetu* into two categories : (*i*) casual, (*ii*) non-causal[1]. There is no doubt about it that since the time of *Gautama*[2] (550 B.C.—300 A.D ?) the importance of such cases where the proban and the probandum stand in cause-effect relation to each other has been recognised with the result that all the five traditions of the *Naiyāyikas*, *Vaiśeṣikas*, *Sāṁkhya*, *Buddhists* and the *Jainas* begin their discussion of the varieties of *hetu* with a discussion of cause-effect relationship between the proban and the probandum.

It is perhaps this relationship of cause and effect between the probandum and the proban which has been severely criticised by the Indian logicians throughout the history of Indian logic. The contention that an effect can be inferred from the cause appears to have been accepted by *Vātsyāyana*[3] (300 A.D.) without any discussion. But, the fact that he immediately gave an alternative explanation of *pūrvavat*[4], where the cause-effect relationship was not involved, points

---

1. *Pramāṇaparīkṣā*, p. 72.
2. *Nyāyasūtra*, 1.1.5.
3. पूर्ववदिति.यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते । —*Bhāṣya* on Ibid, 1.1.5
4. *अथ वा पूर्ववदिति-यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनान्यतरस्याप्रत्यक्षस्यानुमानम्, यथा धूमेनाग्निरिति ।* — Ibid, 1.1.5.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

to the fact that he was aware of some criticism of the doctrine that effect can be inferred from the cause. It is very interesting to note that the example that he gives as a case of *pūrvavat* under its second interpretation is a case of the inference of effect from the cause which is just the reverse of the first interpretation of the *pūrvavat* though Vātsyāyana himself does not take any note of this fact.

The fact that the *Yuktidīpikā* (6th Cent. A.D.) criticises any inference of the effect from the cause saying that there may be many obstacles like wind, etc., and the cloud may not necessarily lead to rain[1] proves that the example of inference given by *Vātsyāyana* was being challanged by his contemporaries. The *Yuktidīpikā* pointed out that cause is a complex idea and it is the whole complex of the cause which could lead to the inference of the effect[2]. The *Yuktidīpikā* criticises the inference of rain on the basis of flood saying that the flood could be due to many such reasons as melting of the snow or breach in a dam[3]. The valid inference, according to the *Yuktidīpikā*, of cause from the effect, would be the inference of the root of the lotus from its leaves or the inference of the seed from the sprout[4]. The *Yuktidīpikā*, thus, found fault with the examples of cause-effect relationship and tried to improve upon the previous examples by suggesting new examples. It, however, supports the old examples also after showing its invalidity through a far-fetched method of eliminating the possibilities of other causes of flood in a particular territory at a particular time under particular conditions[5]. But, this does not appear to be the first choice of the *Yuktidīpikā*, It is only out of regard for the predecessors that the *Yuktidīpikā* takes upon itself to justify the views of earlier authors.

A versatile author like *Uddyotakara* (6th Cent. A.D.) who himself belonged to the *Nyāya* school could not remain satisfied with

---

1. न हि मेघोदयोऽवश्यं वृष्टेः कारणं भवति वायुवादिनिमित्तप्रतिबन्धासम्भवात् ।
—*Yuktidīpikā* on *Sāṅkhyakārikā*, 5.
2. यदा लोहदण्डादिसाधनसम्पन्नेन व्यापारवता कुम्भकारेणाधिष्ठितां मृदमुपलभ्य घटस्य, तदा पूर्ववत् ।
—Ibid., 5.
3. नदीपूरस्य हि निमित्तमनेकविधं भवतीति ह्रिविलयनसेतुभंगगजक्रीडादि ।
—Ibid., 5.
4. उच्यते यदा तर्हि पर्णदृष्ट्वा शालूकं प्रतिपद्यते. अङ्कुरं वा दृष्ट्वा बीजमिति शेषवत् ।
—*Yuktidīpikā* on *Sāṅkhyakārikā*, 5.
5. तत्र यदा प्रसङ्गिनां हिमविलयनादीनां देशकाललिङ्गैः प्रतिषेधः क्रियते तदा मुक्तसंशयं प्रतिपत्तिर्भवति ।
—Ibid,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

this half-hearted support of a work of an opponent school. He, therefore, justified the case of an inference of the effect from the cause by saying that the effect is inferred as an attribute of the cause. It is, as it were, the potentiality of the cause to give birth to the effect which is inferred and not even available at the time of the inference and cannot, therefore, be inferred according to the dictum 'नानुपलब्धे न निर्णीते न्याय: प्रवर्तते'. Similarly, according to *Uddyotakara*, cause is also to be inferred from the effect only as its part.[1]

The fact that *pakṣadharmatā* of *hetu* was considered to be a necessary condition for inference was taken care of by *Uddyotakara* by saying that in the example of the inference of rain in the upper regions by looking at the flood in the river in the lower regions; it is not the rain in the upper region which is inferred, but it is the relationship of the river with that upper regions which are full of rains, which is inferred. There is no reference to the time factor in this inference[2]. It was, thus, through a very shrewd interpretation that *Uddyotakara* could defend the position of his predecessors.

This interpretation, however, could not carry conviction with the logicians of the opponent school like *Dharmakīrti* (7th Cent. A.D.) who accepted that effect necessarily presupposes a cause and, therefore, the cause can be inferred from the effect, but, a cause does not necessarily give birth to the effect and therefore no effect can be inferred from a cause[3].

But this objection of the *Budhists* did not stop the orthodox systems from continuing their tradition. The *Gauḍapādabhāṣya* (700 A.D.) of *Sāṁkhyakārikā* repeats the concept of *pūrvavat* as given by *Vātsyāyana* with the same example. He, however, changes the concept

1. यदि तावदयमर्थ: कारणदर्शनात् कार्यास्तित्वं प्रतिपद्यते इति ? तन्नास्ति·····। अथ पुनरेवमनुमीयते यत्र कारणं तत्र कार्यमिति ? एतदपि नास्ति कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वात् ।·····कारणदर्शनाच्च कार्यमनुमीयते इति ब्रुवाणोऽनुमानमुद्रां भिनत्ति । का पुनरियमनुमानमुद्रा ? नामुपलब्धे न निर्णीते न्याय: प्रवर्तते इति । ·····कार्यं तु कारणविशेषत्वेनोपयुक्तं गुणाभूतमनुमीयते इति सूत्रार्थ: । ·····एवं शेषादिष्वपि व्याख्येयम् । तत्रापि कारणं कार्यस्याङ्गभूतमनुमीयते इति । *Nyāyavṛtitikt* 1.1.5

2. कथं पुनर्नदीपूरो नद्यां वर्तमान उपरिवृष्टिमत्तं देशमनुमापयति व्यधिकरणत्वात् ? नोपरिवृष्टिमद्देशानुमानं नदीपूर: किन्तर्हि ? नद्या एवोपरिवृष्टिमद्देशसम्बन्धित्वमनुमीयते नदीधर्मेणैव ·····भविष्यति, भूता वेति कालस्याविवक्षितत्वात् य: कश्चित् काल उपादेय: इति । *Ibid.*, 1.1.5.

3. *Nyāyabindu*, p. 35.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of *Śeṣavat* altogether by making it identical with the *sthālipulākanyāya* as it were.[1]

It was at this stage of the controversy that *Bhaṭṭa Akalaṁka* (750 A.D.) the first Jaina logician to deal with this problem, entered into arena. He sided with the *non-Buddhist* logicians by accepting that effect can be inferred from the cause just as in the inference of the shade from the tree.[2] By giving this example *Akalaṁka* contributed in the following three ways : (*i*) He could give an example of a valid inference of the effect from the cause. (*ii*) He could introduce the idea that there could be a case where the cause and effect could be simultaneous and not in succession. Therefore, he calls these varieties of *hetu* not merely effect and cause but as simultaneous effect and simultaneous cause. In fact, *Akalaṁka* appears to have been influenced by the examples given by *Anuyoga-dvāra* where the example of inference of blossoming of lotus from the rising of sun has been quoted as an example of inference of effect from the cause.[3] (*iii*) In this example he could show that the effect could be actually inferred from the cause and we need not go into the hair splitting method of *Uddyotakara, viz.*, that it is the potential effect not the effect itself which can be inferred from the cause. In fact, the example that was given by him could also safely meet the objection of *Uddyotakara* that a non-existent object is not to be inferred because here the effect also actually exists at the time of inference.

Though the Jainas did not appear to have entered into the controversy raised by *Uddyotakara* as to whether the past or the future objects can be inferred or not, it was *Jayamaṅgalā* commentary of the *Sāṁkhyakārikā* (9th Cent. A.D.) which asserted in unmistakable terms that preceding cause can lead to the inference of succeeding effect and *vice versa*. In fact, the *Jaymaṅglā* interpreted *pūrvavat* and *śeṣavat* as inferences regarding future objects and past objects respectively[4]. It appears to be a very bold step on the part of this commentary in view of the fact that *Uddyotakara* has definitely rejected the idea of any inference of a succeeding effect from a preceding cause and the *Buddhist* logicians have altogether denied the possibility of such an inference. It also goes to the credit of this

1. शेषवद्यथा—समुद्रादेकं जलपलं लवणमासाद्य शेषस्यास्याप्यस्ति लवणभाव इति ।
2. *Pramāṇasaṅgraha*, 29-30.
3. *Anuyogadvāra Sūtra*, 147.
5. भविष्यदर्थसाधनाय पूर्ववदनुमानम्·····अतीतार्थसाधनाय शेषवत् ।
—*Jayamaṅgalā* on *Śāṁkhyakārikā*, 5.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

commentator that in the sphere of logic he did not try to evade the main issue under the shelter of the metaphysical doctrine of its own system, *viz.*, *Satkāryavāda*, *i.e.* the effect is always present in its *cause.*

Vidyānanda (9th Cent. A.D.) the next jain logician, did not make any substantial contribution to the main problem as to whether inference is possible on the basis of cause-effect relationship but contributed indirectly by raising the number of varieties of *hetus* giving full importance to such varieties which are based on cause effect relationship in the positive as well as in the negative sense[1]. He also referred to some indirect cause effect relationship where one cause is related to another effect through the medium of an intermediatary cause. He could enumerate as many as sixteen varities under this sub-heading alone[2].

Vācaspati (9th Cent. A.D.) is not so much occupied in proving that cause can be inferred from the effect as he appears to be anxious to show that the classification of the *Buddhists* regarding the types of *hetus* is wrong. He has, in fact, tried to prove that there is no relationship of cause and effect between the fire and the smoke because both of them are not in succession but simultaneous[3]. In fact, such was his anxiety not to accept cause effect relationship even where it was obvious that as an example of an inference of an effect from the cause he could find an illustration in a very abnormal case of a deaf infering the sound of the drum produced by the cause of the beating of the drum by his on hands[4]. This type of example could hardly lead towards any clearer understanding of the problem:

In fact, there have been such advanced works as that of *Udayana* in the field of *Nyāya*, *Sāṁkhyatattvakaumudī* in the field of *Sāṁkhya* and *Pramāṇamīmāṁsā* in the field of Jaina logic, yet they hardly add anything new pertaining to the problem with which we are concerned here and we would, therefore, like to make the following observations of our own at this stage regarding the cases of

---

1. *Pramāṇaparīkṣā*. pp.73-75.
2. Ibid., pp. 73-74.
3. न हि हेतुसत्ता कार्यकाला कार्योत्पादाङ्गम्, अपि तु तत्पूर्णकाला····· एवं धूमादप्यग्निः तत्पूर्वकाल एवानुमीयेत न तु वर्तमानकालः।
   —*Tātparyaṭīkā* on *Nyāyasūtra*, 1.1.5.
4. अपि च बधिरो मुरजमुखमभिहत्य स्वपाणिनाभिघातादेव शब्दकारणात् तत्कार्यं शब्दं निश्शङ्कमनुमिमीते। Ibid.. 1.1.5.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

inference where the proban and the prodandum are related to each other as cause and effect or *vice versa.*

1. We feel that the cause is sometimes precedent to the effect and sometimes it is simultaneous with the effect. As an example where the cause is simultaneous we can quote from *Bhaṭṭa Akalaṁka* who says that shade could be inferred from trees. It may, however, be noted here that it is a case of what is named as *Viṣamavyāpti* where the scope of probandum is larger than that of the proban. An example of *samavyāpti* where the scope of proban and the probandum is co-extensive is not found in the works of ancient authors but could be formulated as the inference of smoke from fire in conjunction with wet fuel or in inference of bondage of sinful actions from pain.

2. It is not correct to say that only simultaneous effect can be inferred from simultaneous cause. We can validly infer that the temperature of water will rise because heat is being given to it. We are, however, not able to formulate the case of inference of an effect from a precedent cause in case of a *Viṣamavyāpti.* It is perhaps not possible for the simple reason that if the scope of the two—the cause and the effect—is different and there is a time gap between the two there is always a possibility of an exception which may contradict the invariable concomitance between the two.

3. The proban implies the probandum and one proban may imply many things but it depends upon one who infers as to which object he wants to be treated as a probandum. It is perfectly all right in this context to infer fire from smoke in the stock example of inference in Indian logic but in case this example is to be treated as a case of inference of the cause from the effect as is being done by almost all the *Jaina* logicians, then it would be proper that we say that we infer fire in conjunction with wet fuel from smoke and not simply fire for the following reasons : (*i*) By *Kāraṇa* or cause we mean *Karaṇa* or the extraordinary cause otherwise the *Buddhists'* objection will stand valid that every cause does not lead to effect necessarily. (*ii*) when in case of an inference of effect from cause we take the exact cause into account, there is no reason that the same should not be done while making an inference of the cause from the effect. It is improper, in fact, to use a single term loosely in a science like logic in two different senses in the same context. (*iii*) When a more precise knowledge can be had from an organ of knowledge, there is no reason that we should not have it in preference to a vague knowledge. There, the inference shall be

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. आर्द्रेन्धनसंयुक्तवह्निमानयं पर्वतः धूमात् ।

and not

2. वह्निमानयं पर्वतः धूमात् ।

With these observations we proceed to the second variety of the *hetus viz.*, the non-causal variety.

According to Vātsyāyana, *Sāmānyatodṛṣṭa* inference is based on a *hetu* whose invariable concomitance is based on experience.[1] He illustrates this by giving the case of inference of the gait of Sun through its change of position which is obviously a case of an invalid inference[2]. *Śeṣavat*, also, under its second interpretation, is a case of non-causal *hetu* as it is a case of inference of one alternative out of many possible alternatives by eliminating the rest of the possible alternatives[3]. Under the second interpretation of *Sāmānyatodṛṣṭa* also the example given is that of the inference of *Ātman* through desires, etc. Here the proban and the probandum are not perceivable[4].

The *Yuktidīpikā* adopts a very critical approach with regard to non-causal type of *hetus*. It says that any case of inference where the probandum is perceivable is not a case of *Sāmānyatodṛṣṭa* at all[5]. The exclusive feature (व्यच्छेदक) of *Sāmānyatodṛṣṭa* cannot be *Vyāpti-graha* or knowledge of invariable concomitance since it is common to all types of inference[6]. The *Yuktidīpikākāra* was intelligent enough to make fun of the inference of the gait of Sun through the change in its position (given by *Vātsyāyana*) by comparing it to another obviously invalid inference of the growth of the houses by the analogy of the growth of trees[7]. The exclusive feature of the *Sāmānyatodṛṣṭa*,

---

1. Bhāsya, 1.1.5.
2. व्रज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र दर्शनमिति, तथा चादित्यस्य तस्मादस्त्यप्रत्यक्षस्या-प्यादित्यस्य व्रज्येति । —Ibid., 1.1.5.
3. शेषवन्नाम परिशेषः स च प्रसज्यप्रतिषेधे ऽन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः । —Ibid., 1.1.5.
4. सामान्यतो दृष्टं नाम यत्राप्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिनो : सम्बन्धे केनचिदर्थेन लिङ्गस्य सामान्यादप्रत्यक्षो लिङ्गी गम्यते । —Ibid., 1.1.5.
5. यत्त्वेतत्सामान्यतो दृष्टमनुमानमेतस्मादतीन्द्रियाणामर्थानां समधिगम : प्रत्यव-गन्तव्यः । —Yuktidīpikā, 5.
6. सर्वत्रैव ह्यनुमाने क्वचिदर्थयोरव्यभिचारमुपलभ्यान्यत्र तज्जातीययोरर्थयोरव्य-भिचारं प्रतिपद्यते । —Ibid., 5.
7. तद्यथा देवदत्ते गमनोद्देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्यात्यन्तादृष्टज्योतिषां देशान्तरप्राप्ते-र्गमनमनुमीयते । तथा प्रासादादीनां वृद्धिपूर्वकं दीर्घत्वमुपलभ्यौषधिवनस्पतीनां दीर्घत्वदर्शनात् वृद्धिरनुमीयते । —Ibid., 5.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

according to the *Yuktidīpikā* is the inference of non-perceivable object. *Sāmānyatodṛṣṭa*, thus, will not represent the non-causal *hetu*.

Uddyotakara appears to have been impressed by the criticism of the *Yuktidīpikā* of the inference of the gait of Sun. He, therefore, denies that the change of position of Sun can be ascertained at all[1]. And though he does not challenge the validity of this inference, yet the roundabout way in which he justifies the conclusion of this inference[2] shakes the very root of the first interpretation of the *sāmānyatodṛṣṭa* inference. *Uddyotakara* also denies any cause effect relationship between fire and smoke and says that fire is inferred only as an attribute of smoke[3]. *Uddyotakara* has, thus, enhanced the scope of non-causal *hetu*. *Uddyotakara* does not accept the position of the *Yuktidīpika* or even *Vātsyāyana* that the probandum is unperceivable in the case of the *Sāmānyatodṛṣṭa* because if it is accepted as imperceivable at the time of inference, then every probandum is such and if it is imperceivable under all circumstances, then it cannot become an object of inference because an object which is not obtainable cannot be inferred as pointed out earlier[4].

Dharmakīrti divided the non-causal *hetus* into *svabhāva* and *anupalabdhi*. Leaving aside the *anupalabdhi* which is a negative *hetu*, the Buddhist logicians divide the non-causal *hetus* into two *svabhāva* and *tādātmya*. The example of *svabhāvahetu* is the inference of tree from *śiṁśipa*. *Svabhāva* is an analytic notion. *Tādātmya* is not to be confused with identity. It expresses a relation between two classes

---

1. सामान्यतोदृष्टम् आदित्यस्यागत्यनुमानमिति । तत्तु न बुद्ध्यामहे कथमनुमीयते इति ।
   यदि तावद्गतिमानादित्य इति अनुमीयते । तत् केन प्रतिपद्यते ? नह्यादित्यगतेः किञ्चित्सम्बद्धं लिङ्गमस्ति ।—नहि सवितुः कश्चित् देशान्तरप्राप्ति पश्यति । देशान्तरं खलु आकाशदेशो वा दिग्देशो भवाभवे । उभयञ्चाप्रत्यक्षम् । न चान्या गतिरस्ति । तस्माद्देशान्तरप्राप्तिदर्शनमयुक्तम् ।
   —*Nyāya Vārttika*, 1.1.5
2. देशान्तरप्राप्तिमनुमाय तथा गत्यनुमानमित्यदोषः ।
   —Ibid., 1.1.5
3. न हि धूमोऽग्नौ वर्तते नाप्यग्निर्धूमे, स्वकारणवृत्तित्वात् । अतो न कार्यकारणभावः ।···गुणभूतोऽनुमेयो भवति, अग्निमानयं धूम इति ।
   —Ibid., 1.1.5.
4. यदि यदानुमीयते तदा अप्रत्यक्षः, तदा सर्वानुमानमेवेति विशेषणमनर्थकम् । अथ न कदाचित्प्रत्यक्षः, कथं तर्हि अनुमानमत्र प्रवर्तते । व्याहतं च भवति-नानुपलब्धे न निर्णीत इति ।
   —Ibid., 1.1 5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

where one includes the other. The stock example of inference in Aristotle's logic, *viz.*, they are mortal because they are men, is implied by *Dharmakīrti* in *Svabhāva*[1].

Gauḍapāda hardly adds anything new to the concept of non-causal *hetu* and sticks to the old example of inference of the gait of planets overlooking the objections raised by the *Yuktidīpikā* and *Uddyotakara*. *Sāmānyatodṛṣṭa*, according to *Gauḍapāda*, is a case of inference based on prior perception[2].

Akalaṅka alongwith other Jain logicians has made a remarkable contribution to Indian logic by (*i*) naming what is known as *tādātmya* amongst the Buddhists, as *vyāpaka* which is certainly a better name than *tādātmya* to suggest inclusion of one class into another class, (*ii*) and by classifying the non-causal *hetus* into predecessor, successor and simultaneous.[3] These three types of *hetus* have perhaps not been mentioned by any other logician in India though they are accepted as valid in modern logic. The *Mānameyodaya* of *Nārāyana Bhaṭṭa*; of course, gives an example of the succeeding probandum from the preceding hetu, though he classifies it under 'दृष्ट' and not under क्रमभाव, which he does not mention at all. These three types of *hetus* are based purely upon orderly successiveness and simultaneity.

Out of these two, the fact of simultaneity appears to have been noted by the *Sāṁkhyas* also who have two different traditions about the seven types of relations—one given by *Jayamaṅgalā*[4] and the other quoted by *Vācaspati* in his commentary on the *Nyāyaysūtraā*[5]. Both of the traditions mention *Saāhacarya Saṁbandha*. The case of *Vyāpaka hetu* is mentioned in the tradition quoted by *Vācaspati* under the name *mātrā*. The main opponent of *Vācaspati*, however,

---

1. Barlingey, S.S., A Modern Introduction to Indian Logic, pp. 134-135.
2. तथा पुष्पिताम्रदर्शनादन्यत्र पुष्पिता आम्रा इति सामान्यतोदृष्टेन साधयति। एतत्सामान्यतो दृष्टम्। —*Gauḍapāda*, on *Sāṅkhyakārikā*, 5.
3. *Pramānasaṁgraha*, *Kārikā*, *29*, *30*.
4. सम्बन्धाश्च सप्त-तत्र स्वस्वामिभावसम्बन्धः—प्रकृतिविकारसम्बन्धः—कार्यकारणसम्बन्धः—पात्रपात्रिकसम्बन्धः—साहचर्यसम्बन्धः—प्रतिद्वन्द्विसम्बन्धः— *Jayamaṅgalā*, *Kārikā* 5.
5. मात्रानिमित्तसंयोगि-विरोधि-सहचारिभिः
स्वस्वामिवध्यघाताद्यैः सांख्यनां सप्तधानुमा ॥
Tāttparyyavṛttiṭīkā 1.1.5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

regarding the types of inference known as *tādātmya* amongst the *Buddhists*, *mātrā* mongst the *Sāṁkhyas*, the *Vyāpaka* amongst the *Jainas* and *Sambhava* by the Pauraṇikas are the Buddhists. The *Sāṁkhyas* have been referred to secondarily by *Vācaspati* in this connection[1] and the Jainas have been ommited altogether.

We can safely conclude from what has been said above that:

(*i*) The Jaina logicians have made a major contribution to Indian logic by pointing out that it is not only simultaniety (*sāhacarya*) between the proban and the probandum which leads to valid inference but it is also fixed order in sucessession (*kramabhava*) of the proban and probandum which leads to valid inference.

(*ii*) The Jainas could point out to this new type of *hetu* because they did not consider *Pakṣadharmatā* (subsistance in the subject) as a necessary condititon of '*hetu*'. It was in fact *Udyotakara* who by his shrewd interpretation of the illustration of inference given by *Vātsyāyana* impliedly insisted on *Pakṣadhamtā* of *hetu* even though *Vātsyāyana* has clearly indicated that objects pertaining to all the three times past, present and the future—can become the object of inference, *Udyotakara* clearly insisted that the time of the object to be inferred is not relevant. This view of *Udyotakara* did not find supporter at least amongst the *Sāṁkhyas* because the *Jayamaṅgalā* continued to insist that the three types of inference are meant for inferring objects pertaining to three times future, past and present respectively. This controversy implied the question of *Pakṣadharmatā* indirectly and the Jainas strongly held the view that *Pakṣadharmtā* is not the necessary condition of a valid *hetu*. In an inference of a precedent cause from the effect an object pertaining to the past is inferred, but there is no *pakṣadharmatā* as in the case of an inference of the cloud from the rains. Similarly when we infer a future object from the present object, as rise of *śakaṭa* from rise of *kṛttikā* or one present object from another present object as moon in the sky from the image of moon in the water, *pakṣadharmatā* is not a necessary condition.

It would thus be seen that this attitude of the Jainas could allow them to add a new category of *hetu viz. hetu* which precedes or succeeds.

(*iii*) In his times *Akalaṅka* appears to have been impressed by

1. एतेनैव·····मात्रानिमित्त·····इत्यपि पराकृतं वेदितव्यम् ।
Tātparyyavṛttiṭīkā 1.1.5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the objection of the Buddhists that the precedent cause may or may not give birth to the effects because he says that only simultaneous cause implies simultaneous effects. But the later *Jaina* logicians improved upon the position by insisting that even the precedent cause implied the effect, as is clear from the illustration given by *Yaśovijaya*[1] (18th Cent.) who says that rains are inferred from a particular type of clouds.

Thus after having brought to light the contributions of the Jaina logicians regarding the classification of *hetu*, we would also like to give a few suggestions of our own :

(1) As already pointed out, we agree that precedent cause can also lead to the inference of succeeding effect provided that it is *karaṇa* and not me rely *kāraṇa*. The illustration given by *Yaśovijaya* of inference of rain from particular clouds should be repealed by an example of an inferrence of rise of temperature of water from the conjunction of water with heat.

(2) As regards, the precedent or succeeding *hetu*, we would like to point out that the non-causal type of these two *hetu*s can further be classified into two : (*i*) where the order of succession is absolutely imaginary just as Monday follows Sunday and (*ii*) where the order of succession represents some real phenomena in nature as day follows night or as spring follows winter. The inference in the case of first type of succession, is analytic ; whereas in the case of second type of succession, the inference is based on experience. This difference has not been noted so far to the best of my knowledge.

(3) All the examples of inferences from what is known as *Vyāpakahetu*, are the examples of analytic statements. This analyticity is sometimes based on linguistic analysis like inference of absence of certainty from doubt, and sometimes it is based on inclusion of one class into another class like the inference of tree from *Śiṁnsapa*. In the case of first inference, the conditions of biconditional statement are available while they are not available in the case of the second inference. This distinction has also not been noted so far.

(4) All cases of inferences based on cause effect relationship according to our analysis, should be biconditonal. This would add to the precision of the science of logic in India. As already noted, the smoke implies not only fire but fire in confunction with wet fuel.

1. वृष्टिर्भविष्यति विशिष्टमेघान्यथानुपपत्तेः । *Jainatarkabhāṣhā*, (p.16).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(5) In cases of inferences from non-causal cases of *hetu* which are either precedent or successive, the inference of the precedent from the successive is beyond the possibility of doubt whereas the inference of successive from precedent is dependent on our belief in the uniformity of the law of nature. In case, this law of nature is violated by some accident, the inference could prove to be invalid.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Doctrine of *Lesyā* and Psychological Types

Dr. T. G. Kalghatgi

1. It is difficult to define personality as it expresses the psycho-physical complexities. Allport defines personality as 'the dynamic organisation within the individual of those psychophysical systems which determine his unique adjustment to his environment'. *1. Our personality formation is very much determined by various factors, like, heredity, environment, psychophysical traits and a host of other forces working constantly on man's environment. And therefore, we find there are personality differences in individual men. Men are not equal, although they have justifiable needs for social and political equality of opportunity. As Radhakrishnan said 'we cannot put our souls in uniform'. 'And democrecy is not the standardising of every one so as to obliterate all peculiarity. '*2 We have, therefore, personality types in society.

2. Several attempts have been made to explain personality, from the psychological and philosophical points of view by classifying individuals into different types. Hyppocritus and Galen used the criterion of temperament as the basis of personality. Men with sanguine temperament are quick and unstable, those with chloric temperament are easily aroused. Similarly he added the distinction of malancholic and phlegmatic temperaments. Plato distinguished men into three types : those who desire wealth (appetite), those who desire honour and those who seek philosophic truth.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Typology flourished in the 19th century in the West. A few of the notable typologists of this period are : J. C.Yung, Herbert, Jahannes Muuler, Hanle, William and Pavlov, to mention a few of them. *3 Kretschmer correlated the physique with personality characteristics. Jung's distinction of introversion and extroversion is important. H.Y. Eysenck used the Jungian concepts and attempted to develop certain fundamental dimensions of personality. Researches in the personality types is a long story in the Western thought. Sprenger's classification is based on social behaviour. He has classified men into theoretical economic, the aesthetic, political and the religious types.

3. Ancient Indian thought has made substantial contribution in the researches in the psychological types of personality. The criteria of understanding and classifying personality have, however, been varied. The emphasis is not merely on physiological and psychological traits, but there are attempts to understand the essential nature of personality in an integrated way. Religious and spiritual criteria also play an important part.

Śvetāśvatara Upaniṣad mentions the fundamental attributes, *sattva*, *rajas* and *tamas* as the criteria for understanding the personality characteristic. *4. The equilibrium of the *guṇas* is the basic criterion of an integrated personality. The differences in the strength of the *guṇas* bring about the personality differences. This is the implication of the view in 'the' *Śvetāsvatara Upaniṣad.* In the *Bhagavadgīta* we find the elaboration of this point so as to present a more comprehensive analysis of the personality types. Lord Kṛṣṇa says that "four-fold distinction among men were created by me on the basis of the distribution of the strength of the *guṇas.*" *5 This verse is to be interpreted as explaining the distinction in the personality types according to the relative predominence of the *guṇas.* Harmony and order are the qualities of the *sāttvic* temper. The *sāttvics* are idealistic, analytic, intelligent and careful. The *rājasics* are egoistic and proud. They are emotional and fickle minded. The *tāmasics* are evil-minded. They are sluggish and lazy. Though all the three *guṇas* are to be found in every individual, one of them predominates in different ways in different individuals.

Based on the *Guṇa* theory, Varāha Mihira has given the classification of personality types in seven forms. He has also mentioned the five-fold classification of dwarfs on the basis of physical and psychological characteristics. *6. We have various types of classification of personality types on the basis of the analysis of persona-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

lity on physiological and psychological criteria mentioned in the science of *Āyurveda* *7.

4. In the light of the studies so far done in the researches in the classification of personality types, we can now study the Jaina theory of *leṣyā* and find out how far it can correlate the concept of personality distinctions in the psychological sense.

Jainism studies the nature of self from two points of view. : *niścayanaya* (noumenal point of view) and the *vyavahāranaya* (phenomenal point of view). From the noumenal point of view the self is eternal indestructible and is pure consciousness. This is metaphysical concept of *ārman*. From the phenomenal point of view the self is the doer and the enjoyer of fruits, the empirical individual. It is embodied, a psycho-physical organism. It is the individual self which has its peculiarity and its individuality. This presents the psychological concept of personality.

Jainas have made a distinction between the three levels of self : 1. The empirical individual, (*bahirātman*). This can be compared to the concept of 'me' of William James. ; 2. The *antarātman*, the psychological self, the 'I' of William James. and 3. The *paramātman*, the transcendental, the pure self which is free from the *kārmic* encrustations.

Due to the *karma* accruing to the soul on account of the activity of the self involved in this world, the self gets individualised and the sense of distinction arises. Personality distinctions arise. This involvement is beginningless, though it has an end. The end is attainment of perfection. That is a philosophical problem and it is beyond the scope of this paper. The empirical personality gets individualised with varied characteristics due to the encrustations of the *kārmic* matter. The distinctions have been made on the basis of the affection of the different types of *karma* and according to the different degrees of intensity of *karma*. And the distinctions between different types of personality have been made on the basis of theory of *leśyā*.

The self, as we have seen earlier, is associated with *karma* and it forms the subtle body called '*karma ṣarīra* 'comparable to '*lingaṣ-arīra*' of *Sāṁkhya* school of thought. The immediate presence of *kārmic* matter in the self throws a reflection as it were on the self, as a coloured flower does in the mirror or a crystal. *9. The influx of *karma* affects the self in various forms and produces certain

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'aura' of colour about it. This colouration may be called *leśyā*, But *leṣyā* does not affect the self in its pure nature. The colour of the reflection does not belong to the real nature of the self.

And therefore, the earlier controversy and the difficulty on understanding the concept of leśyā without contradiction with the nature of the self has relevance and importance. Jacobi was perplexed and found it difficult to being the leśyā theory into harmony with the rest of the Jaina philosophy. *10. However, Dr. Upadhye pointed that the early scholars were misled by their supposition that the leśyā represents the colours of the soul. Tradition never says that the soul itself has colour *11. Leśyā is not a part of the soul as the colour does not form a part of the crastal.

Leśyā is of two kinds : *dravya leśyā* and *bhāva leśyā*. The first refers to the *kārmic* material affecting the individual, and the second is psychic states affecting and being affected by the *kārmic* and bodily factors. The effect of karma in matters affectīng the organism does show the effect of *leśyā*. Psychic conditions (*bhāva leśyā*) create reflexes, they in turn may give rise, through some form of radiation, to some kind of colouration round the organism. This may not be visible to the eye but visible to the persons disciplined in *Yoga*. We may, here, refer to an autobiographical note by Lama Mangalabjong Rampa who states that he could see, owing to *Yogic* discipline he had undergone, the 'aura' of colour round an individual. It varied with individual differences in the mental states at the moment. He once saw blue rays of light emanating from the members of the Chinese Delegation which had come to visit the Dalai Lama. He then appealed to the Dalai Lama not to trust the Delegation as they were not honest. He saw blue rays of light emanating from their bodies. It would not, therefore, be unreasonable to suppose that leśyā phenomena could be investigated by para-psychological research. The science of *Yoga* may also throw some light on this problem.

On the basis of different *leśyās*, persons have been distinguished into six types. Three of them refer to evilminded persons. The remaining are attributed to morally good persons. The six *leśyās* are *i.* black (*kṛsna*), *ii.* blue (*nīla*), *iii.* dove gray (*kapota*), *iv.* yellow (*pīta*) *v.* pink (*padma*) and white (*śukla*). For instance, the man who is wicked and cruel has black *leśyā*. A man who is prone to anger and envy and who loves pleasure gets blue *leśyā*. One who is base and dishonest has grey. One who has subdued passions has yellow, A morally good man has pink. One who is engrossed in the meditation

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of dharma and truth has white *leśyā*. But the fully liberated soul has no *leśyā* at all· *12

The Jainas have given an analogical example of six travellers in the forest. They see a tree full of fruits. The man with black *leśyā* wants to uproot the tree and take the fruits. The man with blue would like to cut the trunk. One with grey would cut the branches. A person with yellow *leśyā* would take off the twigs. One with pink would pluck the ripe fruits only. And one with white *leśyā* would be content to pick up the ripe fruits fallen on the ground without causing slightest damage to the tree or the branches.*13.

There are degrees of the expression of *leśyā* in terms of time. For instance the duration of black *leśyā* varies from half a *muhūrta* to thirty three's *sāgaropamas*! So is the variation in different degrees and time span in the cases of other *leśyās**14.

5. So far, the analysis of the doctrine of *leśyā* has given us a synoptic picture of the phenomena of colouration of the individual selves on the basis of their temperament. The distinction into different types of personality is very much relevant for the study of psychological types of personality. It has been suggested that moral significance of this doctrine is important. *Leśyās*, it is said, have a moral bearing *15. The *leśyās* have been treated as an index of temperament and character. In this sense it need not be studied from the metaphysical point of view only. Psychological approach would be better suited for understanding the problem of personality distinctions. The psychological study of the personality types as presented in the doctrine of *leśyā* in Jainism would throw a flood of light on the psychological investigations and scientific acumen of the ancient seers. Researches in the study of personality with reference to genetics has also been done. It is only to be interpreted in the proper scientific perspective.

References :

*1. Allport G.W.: *Personality—A psychological Interpretation.* (Henry Holt. Ny.) pp 48,

*2 Radhakrishnan. (S) : *Hindu View of Life.* (Unwin Books) 1960. pp 83.

*3. Refer for detailed study to : *Studies in Psychology* (University of Mysore : P.G. Deptt. of Psychology (1974).

Article by Krisnan B. *Typological Conceptions in Ancient Indian Thought.*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*4. *Śvetāsvatar Upanisad* Ch. IV. 5.

*5. *The Bhagavadgītā* : Ch. IV. 13.

*6. Refer. B. Krishna's paper : *Typological Conceptions in Ancient Indian Thought.*

*7. Ibid.

*8. Kalghatgi. (T.G.) *Jaina View of Life.* (Jivaraj Granthamala 1969) pp. 111.

*9. Upadhye (A.N.) *Pravacanasāra* : Edt. Introduction.

*10. S.B.E. Vol XLV Introduction.

*11. Upadhye (A.N.): *Proceedings and Transactions.* 7th All Jndia Oriental Conference 1933. pp. 393-397.

*12. *Uttarādhyayanasūtra* Lecture XXXIV S.B.E. Vol II.

*13. *Gommaṭasāra* : *Jīvakāṇḍa* Ch. XV. pp. 507-509.

*14. *Uttarādhyanasūtra* : Lecture. XXXIV.

*15. Radhakrishnan (S) : *Indian Philosophy* Vol. I (1941) pp: 320. (Allen Unwin)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Pre-Mediaeval Jaina Novels

Dr. Jyoti Prasad Jain.

The modern 'novel' and short-story forms of prose fiction are of comparative recent growth, in the west dating since about the beginning of the 18th century, and in India since the last quarter of the 19th century. Literally meaning something 'new and strange', the term 'novel' is used to denote that literary form of fictitious prose narrative or tale which presents a picture of real life, especially of the emotional crisis in the life-history of the men and women portrayed. It does not, however, follow that such tales were unknown to world literature before, only they are not always and necessarily in prose, many being in verse as the bulk of the ancient and mediaeval literature, particularly of the didactic and religious type, is.

Western historians of Indian literature like Weber, Buhler, Jacobi, Hertel, Keith, Macdonell and Winternitz, have all been well impressed with the fact that Jaina monks and authors have always been very good tellers of tales. The commentaries to the canonical texts, even many an early didactic and philosophical work, contain, besides a mass of traditions and legends, numerous fairy-tales and stories. The Jaina *Purāṇas* and the many *Charitras* (*Paurānic Kāvyas*), *Kathās*, and *Kathānakas* were often only a frame in which all manners of fairy-tales and stories were inserted. The *Champus* are ornate novels in prose and verse mixed, and the *Dharma-parīkshas* are didactic-polemical works so closely inter-woven with narratives that they may well be included in the story literature, while there are also satirical humorous tales like the *Dhūrtākhyāna*. In some cases,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

as in the *Malayasundarī-Kathā*, of unknown authorship and originally written in Prakrit, "The author", says Winternitz, "has worked up popular fairy-tale themes into a Jaina legend. A veritable deluge of the most phantastic miracles and magic feats almost takes away the reader's breath in this work. Countless motifs well-known in fairy-tale literature are interwoven with the novel." (cf. HCL, II, p. 533). In addition to all this, there is a vast independent fairy-tale literature of the Jainas, in prose and in verse, in Prakrit, Sanskrit, Apabhramsha, even in Kannaḍa, Tamil and the vernaculars, available in the many collections of stories, the *Kathākoshas* (treasuries of tales).

There is no doubt that 'all these works, be they stories in plain prose or in simple verse, or elaborate poems, novels or epics, are all essentially sermons. They are never intended for mere entertainment, but always serve the purpose of religious instruction and edification'. (Ibid., p. 521). In the Jaina novels, it is true, the heroes and heroines after all sorts of adventures usually renounce the world at last and become monks and nuns for the purpose of attaining liberation, copious instructions on religion are inserted in all convenient places, and underlying the main narrative and most of the inserted stories there is the doctrine of *Karma*, according to which even the slightest peccadillo must have the effects in future rebirths. But, even in modern times, the novel has been made a vehicle for the teaching of history, the advocacy of causes, the showing up of abuses, and so on, there being so much necessary overlapping of the didactic and aesthetic. (cf. Scot James, *The Making of Literature*, pp. 362-363). So even if writers like Winternitz describe the Jaina novels as 'religious novels', which is nothing but a literal translation of the Jaina term '*Dharam-Kathā*, the fact does not detract from their being novels. Several of these Jaina novels are fine romantic tales of love and adventure, and in the numerous stories, parables and fairy-tales inserted one comes across many themes which are often found in non-Jaina narrative literature, and some of which belong to universal literature. As Winternitz avers, the vast Jaina narrative literature is of great importance not only to the student of comparative fairy-tale lore, but also because to a greater degree than other branches of literature, the Jaina tales allow us to catch a glimpse of the real life of the common people. (HCL, II, p. 545)

Prominent among the pre-mediaeval Jaina novels are : *Tarangavai-Kahā* of Pādalipta Sūri (*circa* 3rd-4th century A.D.), *Vārāngacharitra* of Jaṭāsimhanandī (7th century), *Samārāiccạ-Kahā* and *Dhūrtākhyāna* of Haribhadra Suri (8th century), *Kuvalayamālā* of Udyotana (778 A.D.), *Nāyakumāra-chariu* of Svayambhu (*circa* 800

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

A.D.), *Jinadatta-charita* of Gunabhadra (*circa* 850 A.D.), *Upamiti-bhava-prapancha-kathā* a very popular allegorical novel of Siddarshi (906 A.D.), *Yashastilaka-Champu* of Somadeva (959 A.D.), *Nāyakumāra-chariu* and *Jasahara-chariu* of Pushpadanta (965 A.D.), *Pradyumna-charita* of Mahāsena (*circa* 975 A.D.), *Bhavishyadatta-Kāhā* of Dhanapāla Dharkata, *Tilakamanjari* of another Dhanapāla (970 A.D.), *Dharmaparīkshā* of Harisena (988 A.D) and of Amitagati (1014 A.D.), *Jīvandhar-Champu* of Harichandra, *Gadyachintāmaṇi* and *Kshatrachudāmaṇi* of Vadibhasimha, *Jīvaka Chintāmaṅi* in Tamil by Tirutakkatevara (*circa* 8th century A.D.), *Yashodhar Charita* of Vādiraja, *Yashodhar Kāvya* in Tamil (anonymous) *Surasundarī-chariu* of Dhaneshvara and *Malayasundarī Kahā* (anonymous)—all *circa* 11th century; *Mṛgāvatī charita* of Devaprabha and *Samyaktva-Kaumudī* (*circa* 13th century); *Mahipāla Charita* of Charitrasundara, *Champaka-Shreshthi-Kathānaka*, *Pāla-Gopāla-Kathānaka* and *Dāna-Kalpadruma* of Jinakīrti, *Ratna-Chūḍa Kathā* of Jinasāgara, *Ambada-Charita* of Amarasūri, *Pāpabuddhi-Dharma-buddhi-Kathānaka*, *Aghatakumāra-Kathā*, and *Uttama Kumāra-Charitra* (all *circa* 15th century). *Sīlappadhikaram* by Illango (*circa* 2nd century A.D.), *Neelkesi* (anonymous) (*circa* 4th-5th century A.D.), *Valaiyapati* (anonymous) (*circa* 10th century A.D.), *Chuḍāmaṇi* by Tolamolitevara, *Perunkadai* by Prince Konguvela are some specimens of Jain novels written in Tamil, and there are more than a dozen in Kannaḍa. The list is by no means exhaustive.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन विश्व भारती : प्रवृत्ति एवं प्रगति

जैन विश्व भारती की विविध प्रवृत्तियों को गत कुछ महीनों में और भी अधिक सुदृढ़ किया गया है।

जैन विश्व भारती के शिक्षा-विभाग के अन्तर्गत एक महिला महाविद्यालय की स्थापना की जा चुकी है तथा एतदर्थ 'ब्राह्मी विद्या विहार' भवन का निर्माण भी अखिल भारतीय तेरापन्थी महिला परिषद् द्वारा प्रदत्त एक लाख की राशि द्वारा सम्पन्न होने जा रहा है। इस महाविद्यालय में, जो अभी पारमार्थिक शिक्षण संस्था के भवन में चल रहा है, अध्ययन-अध्यापन का कार्य नियमित रूप से चालू कर दिया गया है।

शोध-विभाग की प्रवृत्तियों को भी गतिशील बनाया गया है। इस विभाग में निदेशक के रूप में डॉ. नथमल टाटिया, (भूतपूर्व निदेशक, वैशाली शोध संस्थान तथा नव नालन्दा महाविहार), सह-निदेशक के रूप में डॉ. दयानन्द भार्गव (रीडर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) एवं कनीय शोध-पदाधिकारी के रूप में डॉ. पुष्पा गुप्ता को नियुक्त किया गया है।

प्रसिद्ध शिक्षाविद् एवं संस्कृत के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् श्री लक्ष्मीनारायण ओम प्रकाश जोशी ने जैन विश्व भारती के परामर्शक के रूप में अपनी अमूल्य सेवाएँ अर्पित की हैं।

उपर्युक्त दो विभागों के अतिरिक्त साधना विभाग भी गतिशील है। इस विभाग के लिए मानद सह-निदेशक के रूप में श्री धर्मचन्द लूणिया को नियोजित करने का प्रयास चल रहा है। साधना के लिए एक बासठ कक्षीय भवन का निर्माण चौथमल वृद्धिचन्द गोठी चैरिटेबल ट्रस्ट द्वारा प्रदत्त राशि से किया गया है, जिसका नाम प्रज्ञा-प्रदीप रखा गया है।

सभी विभागों के उपयोग के लिए 'सुधर्मा सभा' नामक एक विशाल स्थायी सभा मण्डप का निर्माण-कार्य समाप्ति पर है। इस सभा-मंडप का प्रांगण १५०० वर्गफुट विस्तृत है। इसका निर्माण श्री कालू जन्म शताब्दी समारोह समिति, छापर द्वारा प्रदत्त एक लाख की राशि से सम्पन्न हुआ है।

पदाधिकारियों के आवास हेतु भिन्न भिन्न व्यक्तियों की आर्थिक सहायता से चार आवास गृहों का निर्माण किया गया है। इनके अतिरिक्त एक स्वागत कक्ष और एक जलागार का निर्माण भी किया जा चुका है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

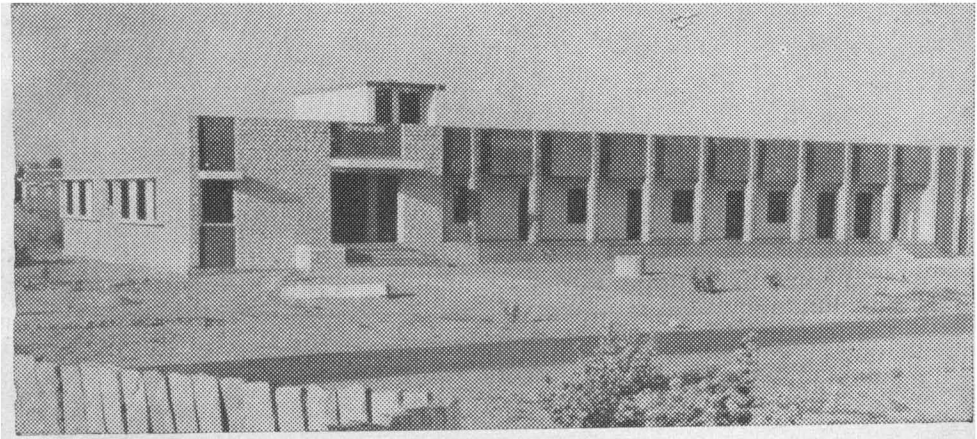

अतिमुक्तक (गौतम ज्ञानशाला)

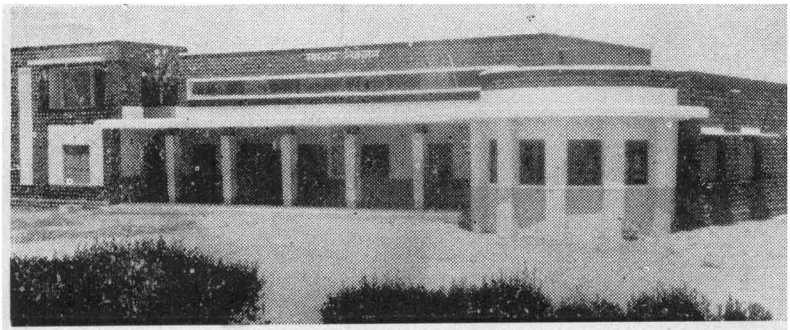

भिक्षु-विहार (स्वास्थ्य-निकेतन)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

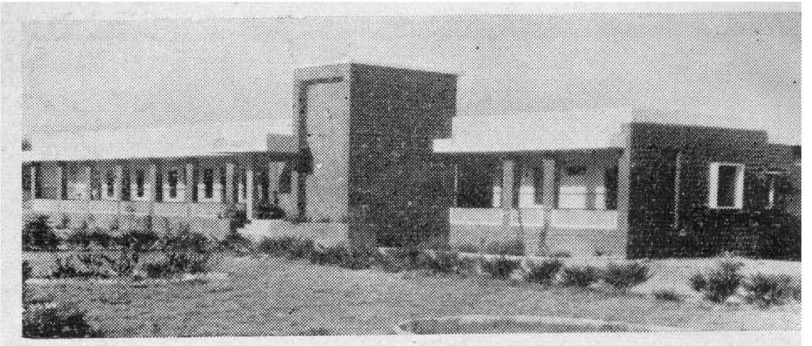

आश्वास (अतिथि भवन)

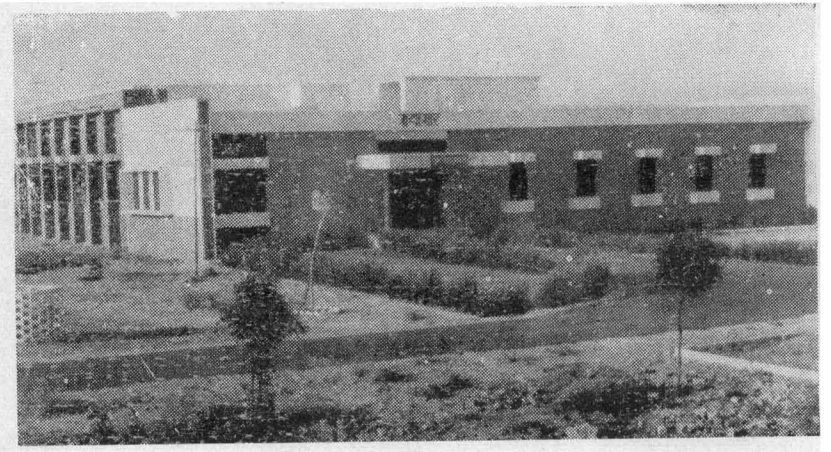

श्रुतसन्निधि (ग्रंथागार)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस वर्ष आचार्य श्री के पर्युषण-प्रवचन सुधर्मा सभा में सफलता पूर्वक सम्पन्न हुए, जिनमें हजारों की संख्या में देश के विभिन्न राज्यों से आए हुए यात्री उपस्थित रहे। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत कई विशिष्ट विद्वानों के भाषण भी हुए।

उपर्युक्त सभी विभागों के कार्यक्रम एवं भावी परिकल्पनाओं को लिपिबद्ध किया जा चुका है तथा अंगरेजी एवं हिन्दी परिचय-पत्रिकाओं के रूप में उनका मुद्रण कराया जा रहा है।

पारमार्थिक शिक्षण संस्था की बहिनों के पाठ्यक्रम भी संशोधित किये गये हैं एवं अध्यापनार्थ पांच नये व्याख्याताओं के पद सृजित किये गये हैं। इन पदों को विज्ञापित किया गया। योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति अभी विचाराधीन है।

अध्यापन कार्य के स्तर को उन्नत बनाने के लिए डॉ. दयानन्द भार्गव ने एक विस्तृत योजना बनायी जिस पर समुचित विचार किया गया। फलस्वरूप उपर्युक्त पद सृजित किये गये।

गत ग्रीष्मावकाश में डॉ० भार्गव ने स्वयं जैन विश्व भारती में रह कर सतियों एवं पारमार्थिक शिक्षण संस्था की बहिनों के समक्ष जैन न्याय पर विशिष्ट व्याख्यान दिये। गत अगस्त मास से डॉ. नथमल टाटिया भी नियमित रूप से सतियों एवं बहिनों को बौद्ध दर्शन (अभिधर्म) पढ़ा रहे हैं, जिसका उद्देश्य जैन और बौद्ध दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा शोध-खोज की नई दिशाओं को उन्मुक्त करना है।

आचार्य श्री स्वयं सतियों एवं बहिनों को जैन आगमों का अध्यापन करा रहे हैं, जो अध्येताओं में एक नयी चेतना प्रदान कर रहा है।

शिक्षा के क्षेत्र में जैन विश्व भारती ने एक नया कदम उठाया है। जैन दर्शन एवं धर्म के जिज्ञासुओं को व्यापक तथा व्यवस्थित ढंग से लाभान्वित करने के लिए एक पत्राचार पाठ्यक्रम की योजना प्रस्तुत की गई है जिसके अन्तर्गत वर्ष भर में २४ पाठों की एक पाठमाला की व्यवस्था है। कई पाठ तैयार कर लिये गये हैं। निकट भविष्य में इस योजना को कार्यान्वित किया जा रहा है।

गत अप्रैल से अभी तक जिन विद्वानों के विशिष्ट भाषण हुए उनकी सूची इस प्रकार है :—

1. मुनि श्री नथमलजी
2. डॉ. अश्विनी कुमार राय
3. डॉ. मुरडिया
4. डॉ. शक्तिधर शर्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. डॉ. सज्जनसिंह लिश्क

6. डॉ. शिवकुमार शर्मा

शोध विभाग के अन्तर्गत प्रति रविवार को एक गोष्ठी जैन विश्व भारती के श्रुत सम्बोधि भवन में करने की योजना है। इस क्रम में अभी तक मुनि श्री नथमलजी के 'आचार्य भिक्षु का अहिंसा दर्शन' विषय पर दो प्रवचन हो चुके हैं।

अनुसन्धान विभाग के अन्तर्गत चल रहे अंग-शब्द-सूची का कार्य विशेष उल्लेखनीय है। यह कार्य मुनि श्री श्रीचन्दजी द्वारा हो रहा है। इस विभाग के अन्तर्गत जैन-धर्म-दर्शन के विशेष सन्दर्भ में अनुसन्धानपद्धति पर डॉ. दयानन्द भार्गव के तीन व्याख्यान आचार्य श्री के सान्निध्य में हुए।

जैन उपाङ्ग साहित्य का सम्पादन समाप्तप्राय है तथा उनका प्रकाशन कार्य शीघ्र ही होगा।

जैन विश्व भारती की जैन विद्या-परिषद् का वार्षिक अधिवेशन ७,८,९, अक्तूबर को आयोजित हो रहा है जिसमें ५० विद्वानों को आमन्त्रित किया गया है। अनेक विद्वानों के आने की स्वीकृति प्राप्त हो चुकी है।

साधना विभाग के अन्तर्गत प्रेक्षाध्यान का अभ्यास मुनि श्री किशन लालजी नियमित रूप से करवा रहे हैं। इन ध्यान कक्षाओं में अधिकाधिक संख्या में भाई बहिन भाग ले रहे हैं। ध्यानाभ्यास के पूर्व योगासन की भी व्यवस्था है। प्रज्ञा प्रदीप भवन में ३०० व्यक्तियों के बैठ सकने योग्य एक भूगर्भ स्थित ध्यान महाकक्ष के निर्माण होने से आसन एवं ध्यान के कार्यक्रम सुचारु रूप से चल जायेंगे। समय-समय पर साप्ताहिक तथा पाक्षिक पारिवारिक ध्यानशिविरों की व्यवस्था भी चल रही है। इस क्रम में दिनांक १० अक्टूबर से १९ अक्टूबर तक साधना-शिविर का आयोजन किया जा रहा है।

जैन विश्व भारती की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए अन्य योजनाओं के अतिरिक्त एक विसर्जन निधि योजना बनायी गयी है। इस योजना के अंतर्गत प्रत्येक परिवार को प्रतिदिन एक रुपये के लक्ष्य से प्रति वर्ष 365 रुपये जैन विश्व भारती की विसर्जन निधि में देय है। इस योजना के अंतर्गत 4000) की राशि देने वाला व्यक्ति अमर विसर्जन सदस्य कहलाएगा। उसके द्वारा विसर्जित राशि को विश्व भारती के स्थायी कोष में जमा रखा जायगा और ब्याज का ही उपयोग किया जायगा। इस विषय में लोगों से अपील करने के लिए जैन विश्व भारती के कुलपति ने श्री गोपीचन्द जी चोपड़ा, प्रशासक, और श्री जयचन्द लाल जी कोठारी उप-मंत्री के साथ दो दौरे किए जिसमें आशातीत सफलता मिली।

कुलपति
जैन विश्व भारती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेखक-परिचय

आचार्य श्री तुलसी—जैन विश्व भारती की अन्तश्चेतना के प्राणस्रोत युगप्रधान जैनाचार्य, जिनके वाचना-प्रमुखत्व में आगम-संशोधन एवं अनुवाद का महत्त्वपूर्ण कार्य अनवरत रूप से हो रहा है।

मुनि श्री नथमल—अनेक आगम-ग्रन्थों के सम्पादक; मूर्धन्य विद्वान् एवं चिन्तक; अनेक मौलिक ग्रन्थों के प्रणेता।

मुनि श्री दुलहराज—आगम-ग्रन्थ-सम्पादन-कार्य के अनन्य सहयोगी; संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं के विद्वान्।

मुनि श्री महेन्द्रकुमार—जैन साहित्य तथा गणित और विज्ञान के विशेषज्ञ; अनेक अमूल्य ग्रन्थों के प्रणेता।

श्री श्रीचन्द रामपुरिया—कुलपति, जैन विश्व भारती, लाडनूं; जैनविद्या एवं प्राच्यविद्या से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों एवं शोध-निबन्धों के लेखक; आगम-ग्रन्थों के व्यवस्था-सम्पादक।

डा० नथमल टाटिया—निदेशक, शिक्षा एवं शोध, जैन विश्व भारती, लाडनूं; भूतपूर्व निदेशक, पालि शोध-संस्थान, नालन्दा और प्राकृत-जैन शास्त्र और अहिंसा शोध-संस्थान, वैशाली; जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन एवं अन्य भारतीय दर्शनों के अधिकारी विद्वान्; जैन दर्शन विषयक अनेक ग्रन्थों के प्रणेता।

डा० टी० जी० कालघाटगे—आचार्य एवं अध्यक्ष, प्राकृत विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय; प्राकृत भाषा और साहित्य के अधिकारी विद्वान्; अनेक पुस्तकों के लेखक।

डा० ज्योति प्रसाद जैन—जैन विद्या के क्षेत्र में लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक और सम्पादक।

डा० दयानन्द भार्गव—उपाचार्य, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय; जैनदर्शन एवं प्राचीन भारतीय दर्शनों के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान्; जैन दर्शन विषयक अनेक ग्रन्थों के प्रणेता; सह-निदेशक, शिक्षा एवं शोध, जैन विश्व भारती, लाडनूं।

डा० शक्तिधर शर्मा—रीडर भौतिकी विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला, भारतीय ज्योतिष के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान्।

डा० सज्जन सिंह लिश्क—पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाला, जैन ज्योतिष के विशेषज्ञ।

श्री जगदीश सिंह सिसोदिया—पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला, जैन ज्योतिष के विद्वान्।

डा० उदयचन्द्र जैन—प्राध्यापक, संस्कृत कालेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय; जैन विद्या के क्षेत्र में लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् एवं अनेक ग्रन्थों के लेखक।

डा० प्रेम सुमन जैन—प्राध्यापक, संस्कृत-प्राकृत विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय; प्राकृत साहित्य के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् एवं एतद्विषयक अनेक शोध-निबन्धों के लेखक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन विश्व भारती, लाडनूं
महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

वाचना प्रमुख : **आचार्य श्री तुलसी** विवेचक तथा सम्पादक : **मुनि श्री नथमलजी**

आगम ग्रन्थ

१. अंगसुत्ताणि 1 (आयारो, सूयगडो, ठाणं, समवाओ)	८५-००
२. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई : विआहपण्णत्ती)	९०-००
३. अंगसुत्ताणि 3 (णायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणाइ, विवागसुयं)	८०-००

उपर्युक्त तीनों ग्रन्थ संशोधित मूलपाठ, पाठान्तर, पाठान्तर-विमर्श, "जाव" पूर्ति और उसके आधारस्थल, विषयसूची, सम्पादकीय तथा भूमिका से युक्त, प्रत्येक भाग 1100-1200 पृष्ठ।

४. दसवेआलियं (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ 612 साईज डिमाई $\frac{1}{4}$	८५-००
५. ठाणं ,, 1200 ,, ,,	१२५-००
६. आयारो—मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पण	३०-००
७. दशवैकालिक (गुटका) मूलपाठ	१-००
८. उत्तराध्ययन (गुटका) मूलपाठ	३-५०
९. दशवैकालिक तथा उत्तराध्ययन—मात्र हिन्दी अनुवाद	१५-००
१०. दशवैकालिक, उत्तराध्ययन (हिन्दी-पद्यानुवाद)	१०-००

आगमेतर ग्रन्थ

१. श्रमण महावीर—मुनिश्री नथमल	१६-००
२. भगवान महावीर—आचार्य श्री तुलसी	५-००
३. भरतबाहुबलिमहाकाव्यं—अनु० मुनि श्री दुलहराज	३०-००
४. सत्य की खोज : अनेकांत के आलोक में—मुनि श्री नथमल	५-००
५. थ्योरी ऑफ एटम इन जैन फिलोसफी—जे० एस० जवेरी	८-००
६. श्रेणिक बिम्बिसार एण्ड कूणिक अजातशत्रु	७-००
७. प्रतिदिन का एक विचार (गुटका)—श्रीचन्द रामपुरिया	४-००

—: प्राप्ति स्थान :—

जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान)

Jain Vishva Bharti, Ladnun (Raj.), 341305.

प्रकाशक-मुद्रक : रामस्वरूप गर्ग, कार्यालय-सचिव, जैन विश्वभारती लाडनूं, श्याम प्रेस, लाड़नूं के लिए सियोल प्रिंटर्स दिल्ली में मुद्रित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org